॥ श्रीहरिः ॥

सब जग ईश्वररूप है

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

विश्वमें हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि अनेक धर्म, मत, सम्प्रदाय हैं। एक-एक धर्ममें भी अनेक अवान्तर भेद हैं। इतना ही नहीं, एक ही धर्म, मत, सम्प्रदायको माननेवाले दो मनुष्योंमें भी परस्पर पूरे विचार नहीं मिलते। संसारमें दर्शन-भेद, मान्यता-भेद, रुचि-भेद, वर्ग-भेद, जाति-भेद, वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, देश-भेद, प्रान्त-भेद, भाषा-भेद आदि अनेक भेद विद्यमान हैं। परन्तु भगवद्गीताका सिद्धान्त सम्पूर्ण भेदोंसे अतीत तथा व्यापक है और सब भेदोंमें एकता, समन्वय करनेवाला है। जो मतभेद दीखता है, वह भगवद्गीतामें नहीं है, प्रत्युत टीकाकारोंमें है। गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९)। अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं। इस सिद्धान्तमें कोई मतभेद रहता ही नहीं, सम्पूर्ण मतभेद समाप्त हो जाते हैं। कारण कि सम्पूर्ण मतभेद अहम्‌से पैदा होते हैं और '**वासुदेवः सर्वम्**' में अहम् का सर्वथा नाश है। इसलिये गीता सभी धर्म, मत, सम्प्रदायके लोगोंको प्रिय लगती है। गीतारूपी दर्पणमें सभी लोग अपने-अपने मतका दर्शन करते हैं; क्योंकि गीता परमात्माके अलौकिक समग्ररूपका वर्णन करती है। समग्रतामें कोई भेद नहीं रहता।

गीता व्यवहारमें एकता न करके तत्त्वमें एकता करती है। व्यवहारमें भेद उचित भी है और आवश्यक भी। व्यवहारकी एकता पशुता है और भिन्नता (यथायोग्य व्यवहार) मनुष्यता है। व्यवहारमें एकता करना और तत्त्वमें भिन्नता मानना—दोनों ही दोषी हैं। इसलिये गीता व्यावहारिक भेदको दूर न करके तात्त्विक (दार्शनिक) भेदको दूर करती है, समवर्तनकी शिक्षा न देकर समदर्शनकी शिक्षा देती है।

वर्तमानमें विश्व-बन्धुत्वका सिद्धान्त श्रेष्ठ माना जाता है; परन्तु

भाई-भाईमें भी स्वार्थ और अभिमानवश मतभेद, बँटवारा, लड़ाई हो जाती है। जैसे, कौरवों और पाण्डवोंमें लड़ाई हो गयी थी। विश्व-बन्धुत्वसे भी श्रेष्ठ आत्मभावका सिद्धान्त है; परन्तु सबको अपनी आत्मा माननेपर भी सूक्ष्म अहम् रह जाता है, जो सम्पूर्ण मतभेदोंका जनक है। आत्मभावसे भी श्रेष्ठ भगवद्भावका सिद्धान्त है—'**वासुदेवः सर्वम्**'। सबमें भगवान्‌को देखनेसे कोई मतभेद रहता ही नहीं—'**निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध**' (मानस, उत्तर० ११२ ख)। कारण कि भगवान् सभीके इष्ट हैं। अपने इष्टमें तो पूज्यभाव, आदरभाव रखा जाता है। जिसमें इष्टभाव, पूज्यभाव, आदरभाव होता है, उससे विरोध कैसे सम्भव है? शिवमहिम्नःस्तोत्रमें आया है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ ७॥

'हे प्रभो! वैदिकमत (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद), सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, शैवमत, वैष्णवमत आदि विभिन्न मत-मतान्तर हैं; इनमें 'हमारा मत उत्तम, लाभप्रद है'—इस प्रकार रुचियोंकी विचित्रता (रुचिभेद)-के कारण अनेक सीधे-टेढ़े मार्गोंसे चलनेवाले मनुष्योंके लिये एकमात्र प्रापणीय स्थान आप ही हैं। जैसे सीधे-टेढ़े मार्गोंसे बहती हुई सभी नदियाँ अन्तमें समुद्रमें ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार सभी मतावलम्बी अन्तमें आपके पास ही पहुँचते हैं।'

अपने मतका आग्रह होनेसे मनुष्य दूसरे मतकी बातें पढ़ता-सुनता ही नहीं, जिससे वह दूसरे मतकी उत्तम बातोंसे वंचित रहता है तथा उसकी बुद्धि संकीर्ण और राग-द्वेषसे युक्त रहती है। परन्तु अपने मतका आग्रह न होनेसे मनुष्य अपने मतका अनुसरण करते हुए भी

दूसरे मतकी उत्तम, लाभप्रद बातोंको ग्रहण कर सकता है। वह दूसरे मतका तथा उसको माननेवालोंका आदर करता है। इससे उसकी बुद्धिका, ज्ञानका विकास होता है और वह अपने साधनमें शीघ्रतापूर्वक उन्नति करके परमसिद्धि प्राप्त कर लेता है। इसलिये परमात्मप्राप्तिके इच्छुक साधकोंको अनुष्ठान तो अपने मतका ही करना चाहिये, पर अपने मतका आग्रह, पक्षपात न रखकर सभी मतोंका आदर करना चाहिये। सब कुछ भगवान् ही हैं—इस सिद्धान्तको माननेसे सबका अलग-अलग मत एवं तदनुसार अलग-अलग कर्तव्य होते हुए भी उनमें परस्पर भेदबुद्धि नहीं होती, द्वेष नहीं होता, लड़ाई नहीं होती, प्रत्युत उनमें परस्पर प्रेमभाव रहता है। इसलिये भगवद्गीताने कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, राजयोगी आदि किसी भी योगीको दुर्लभ महात्मा नहीं बताया है, प्रत्युत 'सब कुछ भगवान! ही हैं'—इसका अनुभव करनेवालेको ही अत्यन्त दुर्लभ महात्मा बताया है—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' (७। १९)। इसी सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्तको साधक सुगमतापूर्वक समझ सकें और शीघ्र परमसिद्धि प्राप्त कर सकें—इस उद्देश्यसे यह पुस्तक लिखी गयी है।

प्रस्तुत पुस्तकसे पहले भी '**वासुदेवः सर्वम्**' नामसे एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है, पर वह ज्ञानयोगकी मुख्यतासे लिखी गयी थी, जबकि प्रस्तुत पुस्तक '**सब जग ईश्वररूप है**' भक्तियोगकी मुख्यतासे लिखी गयी है। गीतामें भी भगवान्ने '**वासुदेवः सर्वम्**'की बात भक्तियोगकी दृष्टिसे कही है।

इस पुस्तकमें जो बातें आयी हैं, वे बुद्धिका विषय नहीं हैं अर्थात् वे केवल सीखने-सिखानेके लिये नहीं है, प्रत्युत अनुभव करनेके लिये हैं। आशा है, भगवत्प्रेमी साधकोंको यह पुस्तक एक अलौकिक दृष्टि प्रदान करेगी।

निवेदक—

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

१. सब जग ईश्वररूप है

(वासुदेवः सर्वम्)

गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है—'**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। संसारके विषयमें दार्शनिकोंके अनेक मतभेद हैं। कोई अजातवाद मानता है, कोई दृष्टिसृष्टिवाद मानता है, कोई विवर्तवाद मानता है, कोई परिणामवाद मानता है, कोई आरम्भवाद मानता है, पर गीता कोई वाद न मानकर '**वासुदेवः सर्वम्**'को ही मुख्य मानती है। '**वासुदेवः सर्वम्**'में सभी वाद, मत समाप्त हो जाते हैं। कारण कि जबतक अहम्‌की सूक्ष्म गंध रहती है, तभीतक दार्शनिकोंमें और दर्शनोंमें मतभेद रहता है, जबकि '**वासुदेवः सर्वम्**'में अहम्‌की सूक्ष्म गंध भी नहीं रहती। इसलिये महात्मा तो सभी दार्शनिक हो सकते हैं, पर '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है। भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, लययोगी, हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी, अनासक्तयोगी आदि कई तरहके योगी हैं, जो अपने योगमें सिद्ध हो गये हैं, मुक्त हो गये हैं, पर उनको भगवान्‌ने दुर्लभ नहीं बताया है, प्रत्युत 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको ही दुर्लभ बताया है। परन्तु अपने लिये भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पार्थ! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।

तात्पर्य है कि भगवान् '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव करनेवाले महात्माको तो दुर्लभ बताते हैं, पर अपनेको सुलभ बताते हैं। इसलिये एक सन्तने कहा है—

हरि दुरलभ नहिं जगत में, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

संसारमें भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, प्रत्युत महात्मा दुर्लभ है। ऐसा कोई देश, काल, वस्तु, क्रिया, व्यक्ति, अस्था, परिस्थिति घटना नहीं है, जिसमें भगवान् परिपूर्ण न हों। भगवान् तो सब जगह हैं, पर भगवान्‌का प्यारा भक्त सब जगह नहीं होता। इसलिये कहा है—

हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
हरि रीझै जग देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

भगवान् प्रसन्न होते हैं तो जीवको मानवशरीर देते हैं। उस मानवशरीरसे वह नरक, स्वर्ग और मोक्षको भी प्राप्त कर सकता है; ज्ञान, वैराग्य और भक्तिको भी प्राप्त कर सकता है*; और चौरासी लाख योनियोंको भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु भगवान्‌के भक्त नरक, स्वर्ग आदि नहीं देते, प्रत्युत भगवान्‌को ही देते हैं! ऐसे भक्तका स्वरूप गीता बताती है कि वह '**वासुदेवः सर्वम्**'—इस ज्ञानवाला होता है।

जैसे, आमका बगीचा होता है। उसमें बिना ऋतुके आमका एक फल भी नहीं होता, तो भी वह बगीचा आमका ही कहलाता है। अमरूदके बगीचेमें एक भी अमरूद देखनेमें नहीं आता, तो भी वह बगीचा अमरूदका ही कहलाता है। गेहूँकी खेतीमें एक दाना भी गेहूँका नहीं मिलता, तो भी वह खेती गेहूँकी ही कहलाती है। कारण यह है कि पहले आमके बीज बोये गये, फिर उनसे वृक्ष हुए और

---

* नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥
(मानस, उत्तर० १२१। ५)

अन्तमें उनमें आमके फल (बीज) आयेंगे, इसलिये बीचमें भी वह आम कहलाता है। आरम्भमें अमरूदके बीज बोये गये और अन्तमें भी वृक्षोंपर अमरूदके फल (बीज) आयेंगे, इसलिये बीचमें भी वह अमरूद कहलाता है। पहले गेहूँ बोया गया, अन्तमें गेहूँ ही आयेंगे, इसलिये बीचमें भी वह खेती गेहूँकी ही कहलाती है। भगवान्‌ने गीतामें अपनेको संसारका सनातन और अव्यय बीज बताया है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। (७। १०)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ (९। १८)

भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

'हे कौन्तेय! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सब (व्यष्टि शरीरोंकी) मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिके चार खानि अर्थात् स्थान हैं—**(१) जरायुज**—जेरके साथ पैदा होनेवाले मनुष्य, गाय, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता आदि, **(२) अण्डज**—अण्डेसे पैदा होनेवाले पक्षी, साँप, गिलहरी, छिपकली आदि, **(३) उद्भिज्ज**—पृथ्वीका भेदन करके ऊपरकी तरफ निकलनेवाले वृक्ष, लता, दूब, घास, अनाज आदि, और **(४) स्वेदज**—पसीनेसे पैदा होनेवाले जूँ, लीख आदि। इन चार स्थानोंसे चौरासी लाख योनियाँ पैदा होती हैं। इन योनियोंमें दो तरहके जीव होते हैं—स्थावर और जंगम। वृक्ष, लता, दूब, घास आदि एक ही जगह रहनेवाले जीव '**स्थावर**' हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले जीव '**जंगम**' हैं। इन जीवोंमें भी कोई जलमें रहनेवाले हैं, कोई आकाशमें रहनेवाले हैं और कोई भूमिपर रहनेवाले हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥

(मानस, बाल० ३। २)

इन चौरासी लाख योनियोंके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, बालग्रह आदि भी कई योनियाँ हैं। इन सम्पूर्ण योनियोंके बीज भगवान् हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह बीज मैं ही हूँ। कारण कि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥

(श्रीमद्भा० १। ३। ५)

'यही भगवान् नारायण अनेक अवतारोंके अव्यय बीज हैं। इनके छोटे-से-छोटे अंशसे देवता, पशु-पक्षी और मनुष्यादि योनियोंकी सृष्टि होती है।'

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं, पर सभीका एक ही बीज है! तात्पर्य यह हुआ कि देखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें जो आता है, वह सब भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। संसारके आदिमें भी भगवान् थे और अन्तमें भी भगवान् रहेंगे, फिर बीचमें दूसरी चीज आ ही कैसे सकती है? भगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

'सृष्टिके पूर्व भी मैं ही था, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ। जो सत्, असत्, और उससे परे है, वह सब मैं ही हूँ तथा सृष्टिके बाद भी मैं ही हूँ एवं इन सबका नाश हो जानेपर जो कुछ बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

अतः भगवान् ही संसाररूपसे दीखते हैं। जैसे गेहूँकी खेती बीचमें घासरूपसे दीखती है। यदि किसी अनजान आदमीको वह खेती दिखायी जाय और कहा जाय कि यह गेहूँ है तो वह कहेगा कि 'तुम ठगाई करते हो, मैंने गेहूँके सैकड़ों बोरे खरीदे और बेचे हैं। यह गेहूँ कैसे हो सकता है? यह तो घास है।' परन्तु जानकार आदमीको वह घास न दीखकर गेहूँ ही दीखता है। ऐसे ही अनजान आदमी कहते हैं कि 'ये तो मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पहाड़ आदि हैं, ये भगवान् कैसे हो सकते हैं? यह तो संसार है, भगवान् है ही कहाँ! किसीने देखा हो तो बताओ, कहाँ है ईश्वर?' परन्तु जानकार आदमीको वह संसार न दीखकर भगवान् ही दीखते हैं। उसकी दृष्टिमें सब भगवान्-ही-भगवान् हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

आमके बगीचेमें आमकी गुठली ही वृक्ष बनती है और अन्तमें आमका फल शेष रहता है। फल तो खानेके काम आ जाता है; और अन्तमें आमकी गुठली ही शेष रहती है। बीचमें वृक्ष दीखता है तो यह गुठलीकी विकृति है। यदि विकृतिको देखें तो वृक्ष है और मूलको देखें तो गुठली है। ऐसे ही विकृतिको देखें तो संसार है* और मूलको देखें तो भगवान् हैं। विकृतिको देखना गलती है; क्योंकि अन्तमें विकृति तो रहेगी नहीं, मूल ही रहेगा। अतः विकृतिको न देखकर मूलको देखना परमात्मदृष्टि है। परमात्मदृष्टिसे परमात्मा-ही-परमात्मा दीखते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

एक ही जल बर्फ, कोहरा, बादल, ओला, वर्षा, नदी, तालाब, समुद्र आदि अनेक रूपोंमें हो जाता है। कड़ाहीमें बर्फ डालकर उसको अग्निपर रखा जाय तो बर्फ पिघलकर पानी हो जायगी। फिर पानी भी भाप हो जायगा और भाप परमाणु होकर निराकार हो जायगा। जल ही कोहरारूपसे होता है, वही बादलरूपसे होता है, वही ओलारूपसे होता है, वही बर्षारूप होकर पृथ्वीपर बरसता है, वही नदीरूपसे होता

* संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे ही इसको विकृति कहा गया है। असत् संसाररूपसे सत्ता और महत्ता न दें तो यह चिन्मय भगवत्स्वरूप ही है—ऐसा अनुभव हो जाता है।

है, वही समुद्ररूपसे होता है। अनेक रूपसे होनेपर भी तत्त्वसे जल एक ही रहता है। ऐसे ही भगवान् अनेक रूपसे बन जाते हैं। जैसे जल ठण्डकसे जमकर बर्फ हो जाता है और गरमीसे पिघलकर और भाप बनकर परमाणुरूप हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानरूपी ठण्डक (जाड़े) से भगवान् स्थूल संसाररूपसे हो जाते हैं और ज्ञानरूपी अग्निसे सूक्ष्म होकर '**वासुदेवः सर्वम्**' रूपसे हो जाते हैं। जल चाहे बर्फरूपसे दीखे या भाप, बादल आदि रूपोंसे दीखे, है वह जल ही। जलके सिवाय कुछ नहीं है। ऐसे ही भगवान् चाहे संसाररूपसे दीखें या अन्य रूपोंसे दीखें, हैं वे भगवान् ही। हमारे और सूर्यके बीचमें कुछ नहीं दीखता, पर वहाँ भी परमाणुरूपसे जल भरा है। जल चाहे बर्फ-रूपमें होनेसे दीखे अथवा परमाणु-रूपमें होनेसे न दीखे, तो भी होता वह जल ही है। इसी तरह जो दीखता है, वे भी भगवान् हैं और जो नहीं दीखता, वे भी भगवान् हैं—'**त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्**' (गीता ११। ३७)। सब जगह भगवान्-ही-भगवान् हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

जैसे, हमें हरिद्वार याद आता है तो मनमें हरिकी पैड़ी दीखती है, उसमें लोग स्नान करते हुए दीखते हैं, गंगाजी बहती हुई दीखती हैं, गंगाजीमें मछलियाँ दीखती हैं, आदि-आदि। यह सब-का-सब मन ही बना हुआ है। मनसे हरिद्वारका चिन्तन छूटते ही कुछ नहीं रहता, केवल मन रहता है। ऐसे ही भगवान्ने संकल्प किया—'**बहु स्यां प्रजायेय**' तो भगवान् ही संसाररूपसे प्रकट हो गये और संकल्प छोड़नेपर संसार नहीं रहेगा, केवल भगवान् ही रहेंगे। अतः एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें बने हुए हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

खाँड़के कई तरहके खिलौने होते हैं, पर उन सबमें खाँड़के सिवाय और कुछ नहीं होता। खाँड़की कोई छतरी बनी हुई है, कोई चिड़िया बनी हुई है, कोई मकान बना हुआ है, पर गलनेपर वे सब एक हो जाते हैं। सोनेके अनेक गहने बनते हैं। उनमें कोई पैरमें पहननेका होता है, कोई कमरमें पहननेका होता है, कोई नाकमें पहननेका होता है, कोई कानमें पहननेका होता है, कोई गलेमें पहननेका होता है, कोई हाथोंमें

पहननेका होता है आदि-आदि। उन गहनोंके अलग-अलग नाम, रंग, आकृति, उपयोग, तौल, मूल्य होते हैं। परन्तु उन सबमें एक सोनेके सिवाय अन्य कुछ नहीं होता। इसी तरह अनेक तरहकी सृष्टि दीखते हुए भी एक भगवान् के सिवाय कुछ नहीं है। तात्पर्य है कि जैसे जलसे बनी हुई चीज जल ही है, खाँड़से बनी हुई चीज खाँड़ ही है, सोनेसे बने हुए गहने सोना ही हैं, ऐसे ही भगवान्‌से बना हुआ सब संसार भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

सब जग ईश्वर रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

एक वैरागी बाबा थे। वे गणेशजीका पूजन किया करते थे। एक बार उनको रामेश्वरम् जाना था, पर पासमें पैसे नहीं थे। वे सुनारके पास गये और उससे बोले कि भैया! ये मेरे गणेशजी और उनका चूहा है, इनको लेकर तुम मुझे पैसे दे दो। सुनारने तौलकर बताया कि इतना मूल्य तो गणेशजीकी मूर्तिका है और इतना मूल्य चूहेकी मूर्तिका है। वैरागी बाबा बोले कि 'क्या बात करते हो मूर्ख कहींके! चूहा तो वाहन है और गणेशजी उसके मालिक हैं, दोनोंका एक मूल्य कैसे हुआ?' सुनार बोला कि 'बाबाजी! मैं गणेशजी और चूहेकी बात नहीं कहता हूँ, मैं तो सोनेका बात कहता हूँ।'

एकनाथजी महाराजने भागवत, एकादश स्कन्धकी टीकामें लिखा है कि एक सोनेसे बनी हुई विष्णुभगवान्‌की मूर्ति है और एक सोनेसे बनी हुई कुत्तेकी मूर्ति है। विष्णुभगवान् श्रेष्ठ एवं पूज्य हैं, कुत्ता नीच (अस्पृश्य) एवं अपूज्य है। परन्तु तौलमें बराबर होनेके कारण दोनोंका बराबर मूल्य है*। बाहरी रूपको देखें तो दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है, पर सोनेको देखें तो दोनोंमें कोई फर्क नहीं! इसी तरह संसारमें कोई महात्मा है, कोई दुरात्मा है; कोई सज्जन है, कोई दुष्ट है; कोई सदाचारी है, कोई दुराचारी है; कोई धर्मात्मा है, कोई पापी है; कोई

* सुवर्णविष्णु सुवर्णश्वान। एक पूज्य एक हीन। विकूं जातां मोल समान। वंद्य निंद्य जाण आत्मत्वीं तैसें॥ २९५॥ (श्रीमद्भा० ११। २९। १४)

विद्वान् है, कोई मूर्ख है—यह सब तो बाहरी दृष्टिसे है, पर तत्त्वसे देखें तो सब-के-सब एक भगवान! ही हैं। एक भगवान् ही अनेक रूपसे बने हुए हैं। जानकार आदमी उनको पहचान लेता है, दूसरा नहीं पहचान सकता। जैसे, आमके बगीचेमें वृक्ष खड़े हैं। उनमें एक भी आम नहीं है। परन्तु जानकार आदमीकी दृष्टिमें वे सब आम हैं। वे उसको आमका ही बगीचा कहते हैं। ऐसे ही महात्माकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान् ही हैं। तत्त्वज्ञ महात्माकी दृष्टि सम होती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५। १८)

'महात्मालोग विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।'

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १४)

'जो ब्राह्मण और चाण्डालमें, ब्राह्मणभक्त और चोरमें, सूर्य और चिनगारीमें तथा कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है, वह भक्त ज्ञानी माना गया है।'

ऐसे समरूप परमात्माको देखनेवाले महात्मा संसारको जीत लेते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। (गीता ५। १९)

'जिनका अन्तःकरण समतामें स्थित (राग-द्वेषसे रहित) है, उन्होंने इस जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है।' अर्थात् उनमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि नहीं रहते। उनकी समबुद्धि स्वतः अटल बनी रहती है। जब एक भगवान्के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो फिर कौन द्वेष करे और किससे करे?

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर जड़-चेतन, विनाशी-अविनाशीका भेद कहाँसे आ गया?

उत्तर—यह भेद मनुष्यसे आया है अर्थात् मनुष्यने ही इस भेदको पैदा किया है और वही इसको मिटा सकता है तथा इसको मिटानेकी जिम्मेवारी भी उसीपर है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि इस जगत्‌को जीवने ही धारण किया है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (७।५)। राग-द्वेषके कारण ही संसार नाशवान्, जड़ दीखता है। भीतरमें राग-द्वेष न हों, समता हो, तो संसार भगवत्स्वरूप ही दीखेगा।

वास्तवमें सब कुछ चिन्मय ही है, पर राग-द्वेषके कारण वह जड़, लौकिक दीखता है। राग-द्वेष न हों तो एक चिन्मय तत्त्व (भगवान्)-के सिवाय कुछ है ही नहीं। जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, विनाशी-अविनाशी सब एक भगवान् ही हैं, भेद केवल राग-द्वेषके कारण हैं। राग-द्वेषका भी कारण मोह अथवा अज्ञान है—

'**मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला**'

(मानस, उत्तर० १२१। १५)

मोह मिटनेसे 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह स्मृति प्राप्त हो जाती है—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १८। ७३)। अतः '**वासुदेवः सर्वम्**'तो सदासे ही है और सदा ही रहेगा, पर मोहके कारण उसका अनुभव नहीं होता। तात्पर्य है कि बुद्धिमें जड़ता (मोह) होनेसे जड़ दीखता है। बुद्धिमें जड़ता न हो तो सब कुछ चिन्मय ही है। जैसे आँखोंपर जिस रंगका चश्मा चढ़ायें, वैसा ही रंग सब जगह दीखता है, ऐसे ही राग-द्वेषादि जैसी वृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही संसार दीखता है।

साधकसे गलती यह होती है कि वह अपनेको अलग रखकर संसारको भगवत्स्वरूप देखनेकी चेष्टा करता है अर्थात् '**वासुदेवः सर्वम्**'को अपनी बुद्धिका विषय बनाता है। वास्तवमें केवल दीखनेवाला संसार ही भगवत्स्वरूप नहीं है, प्रत्युत देखनेवाला भी भगवत्स्वरूप है। अतः साधकको ऐसा मानना चाहिये कि अपनी देहसहित सब कुछ

भगवान् ही हैं अर्थात् शरीर भी भगवत्स्वरूप है, इन्द्रियाँ भी भगवत्स्वरूप हैं, मन भी भगवत्स्वरूप है, बुद्धि भी भगवत्स्वरूप है, प्राण भी भगवत्स्वरूप हैं और अहम् (मैंपन) भी भगवत्स्वरूप है।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको माननेके लिये साधकको बुद्धिसे जोर नहीं लगाना चाहिये, प्रत्युत सहजरूपसे जैसा है, वैसा स्वीकार कर लेना चाहिये। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

'जब सबमें भगवद्बुद्धि की जाती है, तब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा दीखने लगता है। फिर इस परमात्मदृष्टिसे भी उपराम होनेपर सम्पूर्ण संशय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।'

तात्पर्य है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस भावसे भी उपराम हो जाय, इसका भी चिन्तन न करे अर्थात् न द्रष्टा (देखनेवाला) रहे, न दृश्य (दीखनेवाला) रहे और न दर्शन (देखनेकी वृत्ति) ही रहे, केवल भगवान् ही रहें। इसलिये भगवान्ने कहा है—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

२. विविध रूपोंमें भगवान्

गीतामें भगवान् कहते हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(१०। ३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह मैं ही हूँ। मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

जैसे बीजसे खेती होती है, ऐसे ही भगवान्‌से यह सम्पूर्ण संसार हुआ है। जिस प्रकार बाजरीसे बाजरी ही पैदा होती है, गेहूँसे गेहूँ ही होता है, पशुसे पशु ही होते हैं, मनुष्यसे मनुष्य ही होते हैं, इसी प्रकार भगवान्‌से भगवान् ही होते हैं! जैसे सोनेसे बने गहने सोनारूप ही होते हैं, लोहेसे बने औजार लोहारूप ही होते हैं, मिट्टीसे बने बर्तन मिट्टीरूप ही होते हैं, ऐसे ही भगवान्‌से होनेवाला संसार भी भगवद्‌रूप ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

आरम्भमें भी बीज होता है और अन्तमें भी बीज होता है, बीचमें खेती होती है। बोयी हुई बाजरीकी खेतीमें एक दाना भी बाजरीका नहीं है, फिर भी गाय उसको खा जाय तो कहते हैं कि तुम्हारी गाय हमारी बाजरी खा गयी! कारण कि जैसा बीज होता है, वैसी ही खेती होती है। लौकिक बीज तो खेतीसे पैदा होनेवाला होता है, पर भगवान्‌रूपी बीज पैदा होनेवाला नहीं है; अतः भगवान्‌ने अपनेको अनादि बीज बताया है—'**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**' (गीता ७। १०)। लौकिक बीज तो अंकुर पैदा करके नष्ट हो जाता है, पर भगवान्‌रूपी बीज अनन्त सृष्टियाँ पैदा करके भी ज्यों-का-त्यों रहता है; अतः भगवान्‌ने अपनेको अव्यय बीज बताया है—'**प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्**' (गीता ९। १८)। लौकिक बीजसे

तो एक ही प्रकारकी खेती पैदा होती है। जैसे, गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है; ऐसा नहीं होता कि एक ही बीजसे गेहूँ भी पैदा हो जाय, बाजरी भी पैदा हो जाय, मोठ भी पैदा हो जाय, मूँग भी पैदा हो जाय। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्‌रूपी बीज इतना विलक्षण बीज है कि उस एक ही बीजसे सब प्रकारकी सृष्टि पैदा हो जाती है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

‘हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।’

‘**बहु स्यां प्रजायेयेति**’ (छान्दोग्य० ६। २। ३ ; तैत्तिरीय० २। ६)

‘मैं अनेक रूपोंमें प्रकट होकर बहुत हो जाऊँ।’

‘**एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।**’

(कठ० २। २। १२)

‘जो सब प्राणियोंका अन्तर्यामी, अद्वितीय एवं सबको वशमें रखनेवाला परमात्मा अपने एक ही रूपको बहुत प्रकारसे बना लेता है।’

स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, भूत-प्रेत-पिशाच, राक्षस, असुर, देवता, गन्धर्व, चौरासी लाख योनियाँ, चौदह भुवन—सबका बीज एक भगवान् ही हैं।

अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने विभूतियोंका वर्णन किया और अन्तमें अपनी तरफसे बड़ी विलक्षण बात कही—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४२)

'अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस प्रकार बहुत-सी बातें जाननेकी क्या आवश्यकता है? मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हूँ।' तात्पर्य है कि जगत्-रूपसे भगवान् ही स्थित हैं; क्योंकि व्याप्य और व्यापक—दोनों भगवान् ही हैं।

एक बार कन्हैयाने मिट्टी खा ली। यशोदा मैयाको चिन्ता हुई कि मिट्टी खानेसे कन्हैया बीमार हो जायगा। इसलिये मैयाने हाथमें छड़ी ले ली और कहा कि 'बोल, तूने मिट्टी क्यों खायी?' कन्हैयाने कहा कि 'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी, तू मेरा मुँह देख ले।' कन्हैयाने अपना मुख खोला तो उस छोटे-से मुखमें अनन्त सृष्टियाँ दीखने लग गयीं। यशोदाने कन्हैयाके मुखमें अनन्त लोक देखे, जिनमें एक त्रिलोकी देखी। त्रिलोकीमें एक पृथ्वीको देखा। पृथ्वीमें एक भारतवर्षको देखा। भारतवर्षमें भी एक व्रजको देखा। व्रजमें भी एक नन्दगाँवको देखा। नन्दगाँवमें भी नन्दजीके घरको देखा। नन्दजीके घरमें भी एक कमरेमें अपनेको बैठे देखा और अपनी गोदमें छोटे-से कन्हैयाको बैठे देखा। उस कन्हैयाके भी एक छोटे-से मुखमें अनन्त सृष्टियोंको देखा। कारण कि कन्हैयाके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**।'

एक बार काकभुशुण्डिजी भगवान् रामकी बाललीला देख रहे थे और उनके साथ खेल रहे थे। रामजीको प्राकृत शिशुकी तरह खेलते देखकर काकभुशुण्डिजीके मनमें मोह, भ्रम पैदा हो गया। उनको मोहित देखकर रामजी हँसे। रामजीके हँसते ही वे उनके मुखमें चले गये। भीतर जाकर उन्होंने रामजीके उदरमें अनन्त ब्रह्माण्डोंको देखा। उन ब्रह्माण्डोंमें वे कई कल्पोंतक घूमते रहे। कुछ समयतक वे अपने आश्रममें भी रहे। फिर उन्होंने अयोध्यामें जाकर रामजन्मको भी देखा। उसके बाद वे रामजीके हँसनेपर बाहर आ गये। इतना समय केवल दो घड़ीमें ही बीता था (मानस, उत्तर० ८०। १ से ८२)।

गीतामें भी आया है कि अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी देहके एक

अंशमें विराट्‌रूपको देखा। अर्जुन कहते हैं—'**पश्यामि देवांस्तव देव देहे**' (गीता ११। १५), संजय भी कहते हैं—'**अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा**' (गीता ११। १३) और स्वयं भगवान् भी कहते हैं—'**इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि**' (गीता ११। ७)।

भागवतमें तीन तरहके भक्त बताये गये हैं—प्राकृत, मध्यम और उत्तम। जो केवल मूर्तिमें ही श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की पूजा करता है, भगवान्‌के भक्तों तथा अन्य ज्ञानी, विरक्त सन्त आदिमें श्रद्धा-प्रेम नहीं करता, वह प्राकृत अर्थात् आरम्भिक भक्त है[1]। जैसे क-ख-ग सीखनेवाला आरम्भिक विद्यार्थी है; क्योंकि उसकी विद्या शुरू हो गयी, ऐसे ही उस भक्तकी भक्ति शुरू हो गयी। जो भगवान्‌से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुःखियोंपर कृपा तथा भगवान्‌से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त है[2]। जो सम्पूर्ण संसारमें समान रूपसे परमात्माको ही देखता है, वह उत्तम भक्त है[3]। उत्तम भक्तकी बातको यदि आरम्भमें ही मान लिया जाय तो कितने लाभकी बात है! पहले आचार्य होकर फिर क-ख-ग सीखना है! सब कुछ भगवान् ही हैं—यह मान लें तो हम आचार्य हो गये! अब नाम-जप करें, कीर्तन करें, सत्संग करें तो बड़ी सुगमतासे भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

जो हमारे मनको सुहाता है, उसमें तो भगवान्‌को देखना सुगम है,

---

१ अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४७)

२ ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४६)

३ सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४५)

पर जो हमारे मनको नहीं सुहाता, उसमें भगवान्‌को देखना कठिन है। जो मनको नहीं सुहाता, मनके विरुद्ध है, उसमें अगर भगवद्भाव करने लग जायँ तो हम बहुत जल्दी ऊँचे भक्त हो जायँगे। अतः अच्छे-मन्दे, भले-बुरे सबमें भगवान्‌को देखना शुरू कर दें—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(गीता ६। ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें तथा साधु-आचरण करनेवालोंमें और पाप-आचरण करनेवालोंमें भी समबुद्धिवाला (भगवान्‌को समान रूपसे देखनेवाला) मनुष्य श्रेष्ठ है।'

जो हमारेसे वैर-विरोध करनेवाले हैं, हमारी निन्दा-निरादर करनेवाले हैं, उनमें भी भगवान्‌को देखें कि ऊपरसे इनका स्वभाव ऐसा बना हुआ है, पर भीतरसे तो भगवान् ही हैं। सिंह, साँप, बिच्छू आदि सब-के-सब भगवान्‌के स्वरूप हैं। वे ऊपरसे अनेक रंगोंके वस्त्र धारण किये हुए हैं, पर भीतरसे (तत्त्वसे) एक भगवान् ही हैं। जैसे, स्नान करते समय शरीरमें साबुन लगाकर दर्पणमें देखते हैं तो शरीर बहुत बुरा, भद्दा दीखता है। कहीं फफोले दीखते हैं, कहीं लकीरें दीखती हैं! परन्तु भद्दा दीखनेपर भी मनमें दुःख नहीं होता कि कैसी बीमारी हो गयी! कारण कि भीतरमें यह भाव रहता है कि यह तो ऊपरसे ऐसा दीखता है, स्नान करते ही साफ हो जायगा। ऐसे ही सभी परमात्माके स्वरूप हैं, पर ऊपरसे (शरीरोंमें) उनका अलग-अलग स्वभाव दीखता है। वास्तवमें ऊपरसे दीखनेवाले भी परमात्माके ही स्वरूप हैं, पर अपने राग-द्वेषके कारण वे अलग-अलग दीखते हैं।

एक ही भगवान् अनेक रूपोंसे हमारे सामने आते हैं—'**अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे**'। कहीं आग लगी है, कहीं जल बह रहा है, कहीं विवाह हो रहा है, कहीं मृत्युका शोक मनाया जा रहा है, कहीं विद्वान्‌लोग आपसमें तत्त्वका विचार कर रहे हैं, कहीं मदिरा पीकर

आपसमें लड़ रहे हैं—ये सब रूप तो अनेक हैं, पर भीतरसे एक भगवान् ही हैं। ऊपरका स्वभाव तो बदलनेवाला है; क्योंकि वह कच्चा है, पर परमात्मतत्त्व बदलनेवाला नहीं है; क्योंकि वह सच्चा है। इसलिये बड़े-बड़े दुष्ट भी महात्मा हो गये! सन्तलोग बदलनेवालेको नहीं देखते, प्रत्युत न बदलनेवालेको देखते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५। १८)

'ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखते हैं।'

सृष्टिसे पहले भी परमात्मा थे—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १) और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**' (श्रीमद्भा० १०। ३। २५), फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेला आदिका साग भी होता है। मीठा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है और कड़वा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है। ऐसे ही जो हमारे मनको सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है और जो नहीं सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है। सत् भी भगवान्‌का स्वरूप है और असत् भी भगवान्‌का स्वरूप है। अमृत भी भगवान्‌का स्वरूप है और मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है—

'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)

'**मृत्युः सर्वहरश्चाहम्**' (गीता १०। ३४)

नामदेवजी महाराजके घरमें आग लगी तो लोगोंने उनको समाचार दिया। घरमें आग लगनेका समाचार सुनकर नामदेवजी प्रसन्नतासे नाचने लगे कि मेरे घरमें मेरे और मेरे मालिक (भगवान्)-के सिवाय और कौन बिना पूछे आ सकता है? भगवान् ही मेरे घरमें अग्निरूपसे आये हैं और वस्तुओंका भोग लगा रहे हैं। घरसे बाहर कई चीजें पड़ी

हुई थीं, उनको भी नामदेवजी उठाकर घरके भीतर अग्निमें डालने लगे कि महाराज! इनका भी भोग लगाओ! फिर रातोंरात भगवान्ने नामदेवजीका छप्पर बना दिया; क्योंकि जो जिस वस्तुका भोग लगाता है, उसे वही वस्तु प्रसादरूपसे मिलती है। मीराबाईके पास सिंह भेजा गया तो मीराबाई प्रसन्न हो गयीं कि प्रह्लादजीके भगवान् नरसिंहजी आ गये! उन्होंने उस सिंहकी आरती की, माला पहनायी। उसको जलका छींटा लगा तो वह वापस चला गया। तात्पर्य है कि भगवान् किसी भी रूपमें आयें, भक्त उनको पहचान लेता है।

भगवान् चाहे किसी भी रूपमें आयें, उनकी मरजी है। सुन्दर दृश्य हो, पुष्प खिले हों, सुगन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्का रूप है और मांस, हड्डियाँ, मैला पड़ा हो, दुर्गन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्का रूप है। भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है। भगवान्ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। वे कोई भी रूप धारण करें, हैं तो भगवान् ही! रूप तो भगवान्का है और क्रिया उनकी लीला है। कोई पाप, अन्याय करता हुआ दीखे तो समझें कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला करते हैं। वराह (सूअर)-का रूप धारण करके वे वराहकी तरह लीला करते हैं और मनुष्यका रूप धारण करके वे मनुष्यकी तरह लीला करते हैं। वे कोई भी रूप धारण करके कैसी ही लीला करें, भक्तकी दृष्टि भगवान्को छोड़कर कहीं जाती ही नहीं। जब सब कुछ वे ही हैं, फिर भक्त उनके सिवाय और किसको देखे ? इसलिये भक्त कहता है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

—इस श्लोकके दो अर्थ होते हैं—(१) आप ही माता हो, आप ही पिता हो, आप ही बन्धु हो, आप ही सखा हो, आप ही विद्या हो, आप ही धन हो, हे देवदेव! मेरे सब कुछ आप ही हो। (२)

मेरी माता भी आपका स्वरूप है, मेरे पिता भी आपके स्वरूप हैं, मेरे बन्धु भी आपके स्वरूप हैं, मेरे सखा भी आपके स्वरूप हैं, मेरी विद्या भी आपका स्वरूप है, मेरा धन भी आपका स्वरूप है, हे देवदेव! मेरा सब कुछ आपका ही स्वरूप है।

अपना कोई एक अत्यन्त प्रिय व्यक्ति मिल जाय तो बड़ा आनन्द आता है। परन्तु जब सब रूपोंमें ही अपने अत्यन्त प्रिय इष्ट भगवान् मिलें तो आनन्दका क्या ठिकाना है! इसलिये सब रूपोंमें अपने प्यारेको देख-देखकर प्रसन्न होते रहें, मस्त होते रहें। कभी भगवान् सौम्य-रूपसे आते हैं, कभी क्रूर-रूपसे आते हैं, कभी ठण्ड-रूपसे आते हैं, कभी गरमी-रूपसे आते हैं, कभी वायु-रूपसे आते हैं, कभी वर्षा-रूपसे आते हैं, कभी बिजली-रूपसे चमकते हैं, कभी मेघ-रूपसे गर्जना करते हैं। तात्पर्य है कि अनेक रूपोंसे भगवान्-ही-भगवान् आते हैं। जहाँ मन जाय, वहीं भगवान् हैं। अब मनको एकाग्र करनेकी तकलीफ क्यों करें ? मनको खुला छोड़ दें। यह दृढ़ विचार कर लें कि मेरा मन जहाँ भी जाय, भगवान्में ही जाता है और मेरे मनमें जो भी आये, भगवान् ही आते हैं; क्योंकि सब कुछ एक भगवान् ही हैं। भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सबमें मुझको देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

जैसे सब जगह बर्फ-ही-बर्फ पड़ी हो तो बर्फ कैसे छिपेगी ? बर्फके पीछे बर्फ रखनेपर भी बर्फ ही दीखेगी! ऐसे ही जब सब रूपोंमें भगवान् ही हैं, तो फिर वे कैसे छिपें, कहाँ छिपें और किसके पीछे छिपें ?

३. सर्वत्र भगवद्दर्शन

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें देरी होनेका एकमात्र कारण है—उत्कट अभिलाषाकी कमी और इस कमीका कारण है—सांसारिक सुखकी चाहना। हमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, हमारा कल्याण हो जाय, हमें तत्त्वज्ञान हो जाय, हमारा भगवान्‌में प्रेम हो जाय, हम जीवन्मुक्त हो जायँ, हम जन्म-मरणसे रहित हो जायँ, हम सब दुःखोंसे छूट जायँ* आदि किसी भी एक बातकी जोरदार इच्छा होनी चाहिये कि उसके बिना रह न सकें। जैसे, किसीके मनमें यह जोरदार इच्छा हो जाय कि गंगा कैसे मिले? गंगाके पासमें कैसे पहुँचें? गंगाको कैसे जानें? गंगाके दर्शन कैसे हों? और कोई जानकार आदमी सामने बहती हुई नदीकी तरफ संकेत करके बता दे कि यही गंगा है तो गंगाकी प्राप्तिमें कितनी देरी लगी? क्या परिश्रम हुआ? पहले अपनी दृष्टिमें वह नदी थी, अब दृष्टि चली गयी कि यह तो गंगा है—इतनी ही बात है!

एक बार किसी भाईने सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे कहा कि हमें भगवान्‌के दर्शन करा दो! सेठजीने कहा कि भाई, हमारी सामर्थ्य नहीं है। उसने फिर कहा तो सेठजी बोले कि मैं दर्शन करा दूँ तो आप मानोगे नहीं। अगर आप मान लोगे तो दर्शन करा देता हूँ। उसने कहा कि आप सत्यवादी हैं—ऐसा प्रसिद्ध है। अतः आप कहोगे तो मैं मान लूँगा। सेठजी उसको बाहर ले गये और सूर्यकी तरफ संकेत करके बोले कि देखो, ये भगवान् हैं! वह भाई बोला कि सूर्यको तो हम नित्य ही देखते हैं! सेठजीने कहा कि शास्त्रोंने सूर्यको भगवान् कहा है। ईश्वरकोटिके पाँच देवताओंमें भी सूर्यका स्थान है। अतः सूर्य भगवान् हैं—इसमें क्या सन्देह है? तात्पर्य है

---

* परमात्माकी प्राप्ति, कल्याण, तत्त्वज्ञान आदि सभी वास्तवमें एक ही हैं।

कि भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी नहीं है। परन्तु उसकी प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा नहीं है, इसीलिये देरी हो रही है।

अगर घरमें कोई आदमी भूखा हो तो आप उसको दाल, भात, हलवा, पूरी आदि कुछ भी बनाकर दे सकते हैं, पर भूख नहीं दे सकते। भूख तो उसकी खुदकी चाहिये। इसी तरह उत्कट अभिलाषा खुदकी चाहिये। उत्कट अभिलाषा होनेपर भगवत्प्राप्तिमें देरीका कारण ही नहीं है। आप देखनेको तैयार और भगवान् दीखनेको तैयार, फिर देरीका कारण क्या है ?

भगवान्‌की प्राप्ति बड़ी भारी सुलभ है! ऐसा सुलभ दूसरा कोई काम हो ही नहीं सकता। सुलभता–दुर्लभता, सुगमता–कठिनता तो वहाँ होती है, जहाँ कुछ करना पड़ता है अथवा जहाँ प्रापणीय तत्त्वसे दूरी होती है। जहाँ कुछ करना ही नहीं पड़ता, केवल जानना अथवा मानना ही पड़ता है, उसमें क्या सुलभता और क्या दुर्लभता ? क्या सुगमता और क्या कठिनता ? भगवान् अत्यन्त सुलभ कैसे हैं ? अब इसपर विचार किया जाता है।

साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

‘बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें ‘सब कुछ वासुदेव ही है’—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।’

तात्पर्य है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, खम्भा, मकान, जमीन, कपड़ा आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें आ रहा है, वह सब भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी दूसरी चीज नहीं है—इस बातको अभी, वर्तमानमें ही मान लें। स्वयं भगवान्‌के वचन हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

'हे धनंजय! मेरेसे बढ़कर (इस जगत्का) दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओतप्रोत है।'

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। (गीता ७। १०)

'हे पृथानन्दन! सम्पूर्ण प्राणियोंका अनादि बीज मुझे जान।'

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(गीता ७। १२)

'जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं—ऐसा समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह बीज मैं ही हूँ; क्योंकि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

जैसे बीज ही वृक्ष बना है, ऐसे भगवान् ही संसार बने हैं। भगवान् ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियोंके बीज हैं। इतना ही नहीं, इससे भी आगे भगवान् कहते हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९) 'सत् और असत् भी मैं ही हूँ।' संसारमें सत् और असत्के सिवाय और कुछ नहीं है। संसार असत् है, उसमें रहनेवाला परमात्मतत्त्व सत् है। शरीर असत् है, उसमें रहनेवाला जीवात्मा सत् है। शरीर-संसार परिवर्तनशील हैं, जीवात्मा और परमात्मा अपरिवर्तनशील हैं। शरीर-संसार नाशवान् हैं, जीवात्मा और परमात्मा अविनाशी हैं। भगवान् कहते हैं कि

परिवर्तनशील भी मैं हूँ और अपरिवर्तनशील भी मैं हूँ; नाशवान् भी मैं हूँ और अविनाशी भी मैं हूँ। अर्जुन भी कहते हैं—'**त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्**' (गीता ११। ३७) 'आप सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्–असत्से परे जो कुछ भी है, वह सब भी आप ही हैं।'

अब भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी किस बातकी है? परिश्रम किस बातका है ? ये गंगाजी हैं—इसमें क्या देरी लगी? क्या परिश्रम पड़ा? भगवान् तो गंगाजीसे भी विलक्षण हैं। गंगाजी तो एक जगह हैं, पर भगवान् सब जगह हैं। भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि सब कुछ मैं–ही–मैं हूँ, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय**' (गीता ७। ७)। यदि कोई कहे कि इस बातपर हमारा विश्वास नहीं है तो यह उसकी कमी है, तत्त्वकी कमी नहीं है। भगवान्‌पर विश्वास नहीं करेंगे तो क्या उस शरीर या संसारपर विश्वास करेंगे, जो क्षणभंगुर है, नाशवान् है? भगवान्‌की वाणीपर तो विश्वास करते नहीं और चाहते हैं अपना कल्याण! यह कैसे सम्भव है? भगवान्‌के वचनोंपर विश्वास न करना भगवान्‌का तिरस्कार है, अपराध है। अगर उनके वचन हमारी समझमें नहीं आयें तो यह बात दृढ़तासे मान लें कि हमारी समझमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। फिर अनुभव हो जायगा। कारण कि सच्ची बात सच्ची ही रहेगी, झूठी कैसे हो जायगी? भले ही हमारी समझमें नहीं आये, हमारी दृष्टिमें नहीं आये, पर सब कुछ भगवान् ही हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

ज्ञानमार्गमें यह बात आती है कि देखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें जो कुछ आता है, वह सब असत् माया है—

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥

(श्रीमद्भा० ११। २८। ४)

'संसारकी सब वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं और मनसे सोची जा सकती हैं; अतः वे सब असत्य हैं। जब द्वैत नामकी कोई वस्तु

है ही नहीं, तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा ?'

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

(मानस, अयोध्या० ९२। ४)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

(गीता १८। ४०)

'पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।'

परन्तु भक्तिमार्गमें यह बात आती है कि देखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें जो कुछ आता है, वह सब भगवान् ही हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।

(मानस, बाल० ७)

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है।'

तात्पर्य है कि ज्ञानमार्गमें सब कुछ प्रकृतिरूप है और भक्तिमार्गमें सब कुछ भगवद्रूप है।

ज्ञानमार्ग जड़ताके त्यागमें काम आता है और भक्तिमार्ग भगवान्के प्रेममें काम आता है। ज्ञानमार्गमें परमात्मा संसारमें व्याप्त हैं—'**येन**

सर्वमिदं ततम्' (गीता २। १७), '**ईशावास्यमिदं सर्वम्**' (ईश०१) और भक्तिमार्गमें संसाररूपसे परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। ज्ञानमार्गमें गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८) और भक्तिमार्गमें भगवान् ही भगवान्‌में बरत रहे हैं अर्थात् लीला कर रहे हैं—'**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**' (गीता ६। ३०)। ज्ञानमार्गमें साधक अपने स्वरूपमें स्थित होता है और भक्तिमार्गमें साधक भगवान्‌के अर्पित होता है, भगवान्‌का प्रेमी होता है। भगवान् प्रेमके भूखे हैं, ज्ञानके नहीं। भक्त भगवान्‌से प्रेम करता है और भगवान् भक्तसे प्रेम करते हैं; अतः उनमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इस बातको कोई जानना चाहे तो वह एकान्तमें बैठ जाय और यह प्रार्थना शुरू कर दे कि हे नाथ! मैं आपको कैसे जानूँ—'**कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्**' (गीता १०। १७) सब कुछ आप ही हैं— इसको मैं कैसे जानूँ! कैसे जानूँ! कैसे जानूँ! इस तरह भीतरसे लगन लगा दे। एक कहानी है। एक बहुत दरिद्र आदमी था। वह एक महात्माके पास गया और बोला कि 'महाराज! मेरेपर बहुत कर्जा है। खाने-पीनेकी, रहनेकी, कपड़ेकी बहुत तंगी है। ऐसी कृपा करो कि कर्जा उतर जाय।' महात्माने पूछा कि 'तेरे घरमें बड़ी चीज क्या है?' वह बोला कि 'एक स्नान करनेकी बड़ी शिला है, जिसपर बैठकर मैं स्नान किया करता हूँ। उससे बड़ी और कोई चीज नहीं है।' महात्मा बोले कि 'तू अभी जाकर बैठ जा और कहना शुरू कर दे कि यह शिला सोनेकी हो जाय...... शिला सोनेकी हो जाय...... शिला सोनेकी हो जाय...... शिला सोनेकी हो जाय! इतना सोना तो काफी है न?' वह बोला कि 'महाराज! कर्जा तो उसके एक टुकड़ेसे ही उतर जायगा!' महात्मा बोले कि 'अब तू जा और चौबीस घण्टेतक इस बातकी धुन लगा दे।' वह आदमी घर गया और 'शिला सोनेकी हो जाय'—ऐसा कहना शुरू कर दिया। ऐसा कहते-

कहते तेईस घण्टे बीत गये तो उसने देखा कि अभी शिलाका एक टुकड़ा भी सोनेका नहीं हुआ। फिर भी वह कहता गया। चौबीस घण्टे पूरा होनेमें पाँच-दस मिनट रह गये, तब भी शिला नहीं बदली। पर वह कहता गया। जब एक मिनट बाकी रहा, तब वह कहते-कहते उकता गया और बोला कि सोनेकी नहीं होती तो लोहेकी ही हो जाय! उसके ऐसा कहते ही चट वह शिला लोहेकी हो गयी! उसने महात्माके पास जाकर कहा कि 'महाराज! वह शिला तो लोहेकी हो गयी! वह या तो पत्थरकी ही रहती या सोनेकी हो जाती, लोहेकी कैसे हो गयी?' महात्माने कहा कि तूने कहा होगा, तभी वह लोहेकी हो गयी। 'तू उकता गया, इसलिये तेरे कहनेसे वह लोहेकी हो गयी। अगर तू उकताता नहीं और 'शिला सोनेकी हो जाय'—यह कहता रहता तो वह सोनेकी ही हो जाती; क्योंकि वही समय कहनेका था।'

इस तरह साधकको चाहिये कि वह उकताए नहीं और आठों पहर भगवान्‌के पीछे पड़ जाय कि 'मैं आपको कैसे जानूँ!', 'हे नाथ! मैं आपको जान जाऊँ!' ऐसी प्रार्थना सभी कर सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌के अंश होनेसे सबका भगवान्‌पर अधिकार है। भूख तंग करे तो रोटी खा ले, प्यास तंग करे तो जल पी ले, नींद तंग करे तो सो जाय, पर अपनी लगन नहीं छोड़े। मन लगे चाहे न लगे, ध्यान लगे चाहे न लगे, पर प्रार्थना नहीं छोड़े। भगवान् बड़े दयालु हैं, प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५। २९)। दया करके वे अपने-आपको जना देंगे। शिला तो सोनेकी बनती है, है नहीं; पर संसार भगवत्स्वरूप बनता नहीं, वह तो भगवत्स्वरूप ही है। केवल अपनी धारणा बदलती है। इसलिये गोपियाँ भगवान्‌से प्रार्थना करती हैं—'**दयित दृश्यताम्**' (श्रीमद्भा० १०। ३१। १) 'प्यारे! आप दीख जाओ!' तो भगवान् दीख गये, उनके बीचमें ही प्रकट हो गये—'**तासामाविरभूच्छौरिः**' (श्रीमद्भा० १० । ३२ । २)। इससे सुगम साधन और क्या होगा ?

प्रश्न—कोई आदमी हमें गाली देता है तो वहाँ भगवान्‌को कैसे देखें?

उत्तर—उपनिषद्‌में आया है कि शब्द (वाणी) ही ब्रह्म है—'**वाग् वै ब्रह्मेति**' (बृहदा० ४। १। २)। सन्तोंकी वाणीमें भी यही बात आयी है—

जो तू चेला देह को, देह खेह की खान।
जो तू चेला सबद को, सबद ब्रह्म कर मान॥

अतः शब्द भगवान्‌का ही स्वरूप है। कोई अच्छा कहे या मन्दा कहे, वह भगवान् ही है। वराहावतारमें भगवान् सूअर भी बनते हैं और वामनावतारमें ब्रह्मचारी ब्राह्मण भी बनते हैं। सूअर और ब्राह्मण—दोनों ही भगवान् हैं। जब सूअर भी भगवान् हैं तो क्या गाली भगवान् नहीं हैं?

कोई कैसा ही बर्ताव करे, पर आप '**वासुदेवः सर्वम्**'को मत छोड़ो। एक सन्त नदीमें स्नान कर रहे थे। उन्होंने एक बिच्छूको जलके प्रवाहमें बहते हुए देखा। वे अपने हाथसे उसको जलसे बाहर फेंकने लगे तो बिच्छूने उनके हाथमें डंक मार दिया। डंक मारते ही बिच्छू छूट गया और पुनः बहने लगा। सन्तने फिर बिच्छूको स्पर्श किया तो उसने फिर डंक मार दिया। सन्त बिच्छूको बार-बार हाथसे बाहर फेंकनेकी चेष्टा करते थे और वह बार-बार डंक मारता था। एक आदमी यह सब देख रहा था। वह बोला कि कैसे मूर्ख हो! बिच्छू बार-बार डंक मारता है, फिर भी आप उसका स्पर्श करते हो! सन्त बोले कि बिच्छूका स्वभाव है कि जो छुए, उसको डंक मार देना और मेरा स्वभाव है कि कोई मरता हो तो उसको बचा देना। जब बिच्छू अपना बुरा स्वभाव भी नहीं छोड़ता, तो फिर मैं अपना अच्छा स्वभाव कैसे छोड़ दूँ? तात्पर्य है कि अगर दुष्ट व्यक्ति अपनी बुरी बात नहीं छोड़ता तो आप अपनी अच्छी, सर्वश्रेष्ठ बात क्यों छोड़ो?

प्रश्न—शास्त्रोंमें संसार असत्य है—ऐसा क्यों कहा गया है? सब

कुछ भगवान् ही हैं—यही बात सब जगह क्यों नहीं कही गयी ?

उत्तर—संसारको असत्य इसलिये कहा गया है कि आप उससे सुख लेना चाहते हो। जैसे, मन्द अन्धकारमें रस्सी साँपकी तरह दीखती है। जो उसको देखकर डर जाता है, उसको कहते हैं कि 'डरो मत, यह साँप नहीं है, यह तो रस्सी है।' परन्तु जो उसको देखकर नहीं डरता, उसको कहते हैं कि 'यह रस्सी है'। ऐसे ही जो संसारसे सुख चाहता है और जिसके भीतर 'संसार सत्य है, सुखरूप है'—ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है, उसके लिये भगवान् कहते हैं कि यह संसार दुःखालय और नाशवान् है—'**दुःखालयमशाश्वतम्**' (गीता ८। १५)। परन्तु जो संसारसे सुख नहीं चाहता, जिसपर संसारका प्रभाव नहीं है, उसके लिये कहते हैं कि सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

संसार प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति भगवान्की शक्ति है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(गीता ७। ४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी प्रकृति है।'

'**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।**'

(श्वेताश्वतर० ४। १०)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये।'

भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृति और उसका कार्य भगवत्स्वरूप ही हैं; क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से अलग नहीं हो सकती। जैसे शरीरके गोरे या काले रंगको शरीरसे अलग नहीं कर सकते, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओंको शरीरसे अलग नहीं कर सकते, ऐसे ही प्रकृतिको भगवान्से अलग नहीं कर सकते। जैसे मनुष्य अपनी शक्ति (बल,

ताकत, विद्वत्ता, योग्यता, चातुर्य, सामर्थ्य आदि)-के बिना तो रह सकता है, पर शक्ति मनुष्यके बिना नहीं रह सकती, ऐसे ही भगवान् शक्तिके बिना रह सकते हैं, पर शक्ति भगवान्‌के बिना नहीं रह सकती। तात्पर्य है कि शक्ति भगवान्‌के अधीन (आश्रित) है, भगवान् शक्तिके अधीन नहीं हैं। शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होता है। अतः भगवान्‌की शक्ति होनेसे प्रकृतिकी भी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव है।

वास्तवमें परमात्माका स्वरूप समग्र ही है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा नहीं हो सकता। अगर परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा शक्ति (प्रकृति)-के रहनेका स्थान कहाँ होगा? इसलिये गीतामें प्रकृति और पुरुष दोनोंको 'अनादि' कहा गया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३। १९)

विश्वरूपको भी गीतामें 'अव्यय' कहा गया है—

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ (११। ४)

'**त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता**' (११। १८)

संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको भी 'अव्यय' कहा गया है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

(गीता १५। १)

इससे सिद्ध हुआ कि जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूपसे जो कुछ दीख रहा है, वह सब अविनाशी भगवान् ही हैं। भगवान्‌के बिना कुछ भी नहीं है। परन्तु भोग और संग्रहकी आसक्तिके कारण मनुष्यको सब कुछ जड़-ही-जड़ दीखता है! तात्पर्य है कि जड़ संसार केवल जीवकी दृष्टि है। वास्तवमें सब-की-सब वस्तुएँ तत्त्वसे चिन्मय

भगवत्स्वरूप हैं। भगवान्‌के सिवाय मैं–तू–यह–वह कुछ भी नहीं है अर्थात् 'मैं' भी भगवान्‌का स्वरूप है, 'तू' भी भगवान्‌का स्वरूप है, 'यह' भी भगवान्‌का स्वरूप है और 'वह' भी भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान् कण–कणमें पूरे–के–पूरे हैं। प्रह्लादजीके कहनेपर भगवान् नृसिंहरूपसे खम्भेमेंसे प्रकट हो गये; क्योंकि वे वहाँ पहलेसे ही थे! इसलिये साधकको वृक्ष, नदी, पहाड़, पत्थर, दीवार आदि कुछ भी दीखे, वह उसमें अपने इष्ट भगवान्‌को देखकर प्रार्थना कर सकता है कि हे नाथ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो; हे प्रभो! आपको मेरा नमस्कार हो, जैसा कि अर्जुनने कहा है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

'आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!! और फिर भी आपको बार–बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!!'

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

(गीता ११। ३९–४०)

'हे सर्व! आपको आगेसे नमस्कार हो! पीछेसे नमस्कार हो! सब ओरसे ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! अमित विक्रमवाले आपने सबको समावृत कर रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।'

४. भगवत्प्राप्तिका सुगम तथा शीघ्र सिद्धिदायक साधन

जो साधन करनेवाले हैं, परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे भाई–बहनोंके मनमें एक बात रहती है कि कोई ऐसा सीधा–सरल मार्ग बता दे, जिससे हम सुगमतासे और तत्काल परमात्माकी प्राप्ति कर लें। उनके लिये एक विशेष साधन बताया जाता है।

एक ऐसी स्थिति है, जहाँ पहुँचनेपर मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञात–ज्ञातव्य और प्राप्त–प्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता। वहाँ पहुँचनेके लिये तीन मार्ग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगसे कृतकृत्यता हो जाती है, ज्ञानयोगसे ज्ञातज्ञातव्यता हो जाती है और भक्तियोगसे प्राप्तप्राप्तव्यता हो जाती है। यह अन्तिम स्थिति है। अगर कोई साधक कमर कस ले कि मेरेको तो उस अन्तिम स्थितिकी तत्काल प्राप्ति करनी है, उसके लिये एक ऐसा साधन बताया जाता है, जिससे वह सब साधनोंसे ऊँचे उठकर उस अन्तिम स्थितिका आरम्भमें ही अनुभव कर सकता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(११। २९ । १८–१९)

‘जब सबमें परमात्मबुद्धि की जाती है, तब सब कुछ परमात्मा ही हैं—ऐसा दीखने लगता है। फिर इस परमात्मदृष्टिसे भी उपराम होनेपर सम्पूर्ण संशय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।’

'मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय।'[१]

तात्पर्य है कि सब जगह एक परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण हैं—'**सर्वं ब्रह्मात्मकम्**'। उसमें न मैं है, न तू है, न यह है, न वह है; न भूत है, न भविष्य है, न वर्तमान है; न सर्ग है, न प्रलय है; न महासर्ग है, न महाप्रलय है; न देवता है, न मनुष्य है; न पशु है, न पक्षी है; न भूत है, न प्रेत है, न पिशाच है; न जड है, न चेतन है; न स्थावर है, न जंगम है; कुछ भी नहीं है! एक परमात्मा ही इन सब रूपोंमें बने हुए हैं। इस बातको दृढ़तासे मान लें, स्वीकार कर लें। यह सब साधनोंसे श्रेष्ठ साधन है। भागवत, एकादश स्कन्धके उनतीसवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोककी टीकामें एकनाथजी महाराज भगवान्की ओरसे लिखते हैं कि हे उद्धव! सबमें मेरेको देखनेसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है—यह मैं माँ देवकीकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ![२]

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात हमारेको दीखे चाहे न दीखे, हम जानें चाहे न जानें, हमारेको अनुभव हो चाहे न हो, परन्तु यह दृढ़तासे स्वीकार कर लें कि बात वास्तवमें यही सर्वोपरि है। कमी है तो हमारे माननेमें कमी है, वास्तविकतामें कमी नहीं है। जैसे, पहले क-ख-ग आदि अक्षरोंको सीखते हैं, फिर पुस्तकोंमें वे वैसे ही दीखने लग जाते हैं, ऐसे ही पहले केवल इस बातको मान लें कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं', फिर वैसा ही अनुभव होने लग जायगा। इसका

१- तात्पर्य है कि मनसे भगवान्का ही चिन्तन करे और मनमें जो आये, उसको भगवान्का ही स्वरूप समझे। वाणीसे आदरपूर्वक, मीठी और हितकी बात बोले। शरीरसे सबकी सेवा करे, सबको सुख पहुँचाये आदि।

२- यापरी कायावाचामनें। सर्वभूतीं भगवद्भजन। हेंचि मुख्यत्वें श्रेष्ठ साधन। भक्त सज्ञान जाणती॥ ३८०॥ ब्रह्मप्राप्तिचें परम कारण। हेंचि एक सुगम साधन। मजही निश्चयें मानलें जाण। देवकीची आण उद्धवा ॥ ३८१॥ (एकनाथी भागवत)

अनुभव करनेके लिये कुछ करना नहीं है, कहीं आना-जाना नहीं है। भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय आदि जो कर रहे हैं, वे करते रहें। इसके लिये कोई नया साधन नहीं करना है, केवल दृढ़तासे स्वीकार कर लेना है कि सब कुछ परमात्मा ही हैं। कारण कि सृष्टि-रचनाके समय भगवान्‌ने कहींसे कोई मसाला, सामग्री नहीं मँगायी, प्रत्युत यह संकल्प किया कि मैं एक ही बहुत रूपोंसे हो जाऊँ—

'**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति**' (छान्दोग्य० ६। २। ३)

'**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति**' (तैत्तिरीय० २। ६)

'**एकं रूपं बहुधा यः करोति**' (कठ० २। २। १२)

'**एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति**' (गोपालपूर्वतापनीय०)

वे एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। उनके रूप असंख्य हैं—'**अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे**'। चौरासी लाख योनियाँ हैं और एक-एक योनिमें करोड़ों-अरबों जीव हैं, पर सब-के-सब एक परमात्मा ही हैं। इस बातको मान लें और जहाँतक बने, कभी भूलकर भी शरीरसे किसीके अहितका बर्ताव न करें, मनसे किसीके अहितका चिन्तन न करें, वाणीसे कड़वी बात कहकर किसीको दुःख न दें। इस विषयमें सावधान रहें। कभी चूक हो जाय तो चरणोंमें गिरकर माफी माँग लें। भूल हो जाय तो फिर उसको सुधार लें। एक मारवाड़ी कहावत है—'**पड़ पड़ कर सवार होवे**' अर्थात् घोड़े, साइकिल आदिपर चढ़ते ही मनुष्य पूरा सवार नहीं हो जाता, प्रत्युत कई बार पड़कर (गिरकर) ही सवार बनता है। इसी तरह कोई भूल हो जाय तो आगे सावधान हो जायँ।

एक कहानी है। एक सिंहने श‍ृगाली (सियारी)-के बच्चेको अकेला देखा तो दयावश होकर उसको उठा ले आया और सिंहनीको दे दिया। सिंहनीके दो पुत्र थे। उसने श‍ृगालीके बच्चेको अपना तीसरा पुत्र मान लिया और उसका पालन-पोषण करने लगी। वे तीनों बच्चे एक साथ खेलते थे और सिंहनीका दूध पीते थे। जब वे थोड़े बड़े

हुए, तब शिकारके लिये इधर-उधर घूमने लगे। एक दिन उस जंगलमें एक हाथी आया। उसको देखकर श्रृगालीका बच्चा डरकर घरकी तरफ भागा तो यह देखकर सिंहनीके दोनों बच्चे भी हतोत्साहित होकर घर चले आये और अपनी माँसे बड़े भाई (श्रृगालीके बच्चे)-की बात सुनायी कि किस तरह वह हाथीको देखकर भाग आया। श्रृगालीका बच्चा उनकी उपहासपूर्ण बात सुनकर गुस्सेमें भर गया और बोला कि क्या मैं इन दोनोंसे किसी बातमें कम हूँ, जो ये मेरा उपहास कर रहे हैं? उसका गुस्सा देखकर सिंहनी हँसी और बोली—

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक।
यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते॥

(पंचतन्त्र ६, लब्ध० ४४)

'हे पुत्र! तू शूरवीर है, शिकार करनेकी विद्या भी जान गया है और सुन्दर भी बहुत है; परन्तु जिस कुलमें तू पैदा हुआ है, उसमें हाथीको मारनेकी रीति नहीं है।'

इसी तरह परमात्माको प्राप्त करनेकी रीति मनुष्य योनिमें ही है, अन्य योनियोंमें नहीं। गायका शरीर मनुष्यशरीरसे भी अधिक पवित्र है, यहाँतक कि उसके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र हैं और उसके खुरोंसे उड़ी धूल (गोधूलि) भी पवित्र है*। पर गायोंमें परमात्मप्राप्तिकी रीति, योग्यता नहीं है। यह रीति, योग्यता मनुष्योंमें ही है। परमात्मप्राप्तिके लिये कोई भी मनुष्य अनधिकारी नहीं है। लखपति-करोड़पति सब नहीं बन सकते, राजा-महाराजा, मिनिस्टर सब नहीं बन सकते, पर परमात्माकी प्राप्ति सब कर सकते हैं। भाई हो चाहे बहन हो, ब्राह्मण हो चाहे शूद्र हो, साधु हो चाहे गृहस्थ हो, बड़ा हो चाहे छोटा हो, नीरोग हो चाहे रोगी हो, विद्वान् हो चाहे अपढ़ हो, कैसा ही क्यों न हो, उसके कुलमें परमात्माको प्राप्त करनेकी रीति है अर्थात् वे सब-

* धेनुधूरि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल। (मानस, बा० ३१२)

के–सब परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। बेटा कोई बड़ा होता है, कोई छोटा होता है, कोई पढ़ा–लिखा होता है, कोई अपढ़ होता है, कोई समझदार होता है, कोई बेसमझ होता है, कोई धनी होता है, कोई निर्धन होता है, कोई योग्य होता है, कोई अयोग्य होता है, पर अपनी माँको अपना कहनेका अधिकार सबको समान होता है। इसी तरह भगवान्‌को अपना कहनेका अधिकार सबको समान है। सभी भगवान्‌से कह सकते हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

इसलिये हम तो योग्य नहीं हैं, हम भक्त नहीं हैं, हम ज्ञानी नहीं हैं, हम योगी नहीं हैं, हम अधिकारी नहीं हैं—इन बातोंको लेकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिये, प्रत्युत भगवान्‌से ऐसा कहना चाहिये कि भले ही हम कुछ न हों, अंश तो हम आपके ही हैं। हम आपके हैं और आप हमारे हैं—इसमें दो मत नहीं हैं। इस प्रकार निःसन्देह होकर दृढ़तासे भगवान्‌के भजनमें लग जाना चाहिये।

अभी फौजमें कोई भरती होना चाहे तो उसकी भलीभाँति जाँच की जाती है, उसकी योग्यता, पढ़ाई, अवस्था, कद, स्वास्थ्य आदि देखा जाता है। परन्तु भगवान्‌की फौजमें बन्दर, भालू आदि भी भरती हो गये! भगवान्‌की फौजमें कोई बन्धन नहीं है कि इतना बड़ा होना चाहिये, ऐसी योग्यता होनी चाहिये, इतना कद होना चाहिये आदि–आदि। भगवान्‌के दरबारमें ध्रुव, प्रह्लादजी आदि छोटे–छोटे बालक भी भरती हो गये, जटायु आदि पक्षी भी भरती हो गये, पत्थर बनी हुई अहल्या भी भरती हो गयी, नेत्रहीन सूरदास भी भरती हो गये! सूरदासजीको एक अँगुली भी नहीं दीखती थी, पर वे सूर्यके समान हो गये—‘**सूर सूर तुलसी शशी**’! भगवान्‌का दरबार सबके लिये सदा खुला है!

भगवत्प्राप्तिकी ऊँची–से–ऊँची और सीधी–सरल बात है—‘**सर्वं**

ब्रह्मात्मकम्', '**वासुदेवः सर्वम्**'। इस विषयमें यह बात पहले कही जा चुकी है कि हमारी समझमें आये या न आये, दिखायी दे या न दे, कोई परवाह नहीं, केवल निःसन्देह होकर दृढ़तासे यह स्वीकार कर लें कि सब कुछ भगवान् ही हैं। गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ, सन्त–महात्मा सभी यही बात कहते हैं; क्योंकि यह वास्तविक बात है। सब कुछ परमात्मा–ही–परमात्मा हैं—ऐसा मानते हुए उपराम हो जायँ—'**परिपश्यन्नुपरमेत्**' (श्रीमद्भा० ११। २९। १८)। '**उपरमेत्**' पदका अर्थ है कि 'सब कुछ परमात्मा हैं'—इस वृत्तिसे भी उपराम हो जायँ, इस वृत्तिको भी छोड़ दें। वृत्ति छूटनेपर एक परमात्मा ही रह जाते हैं। फिर न कोई साधक रहता है और न कोई साधन रहता है, प्रत्युत एकमात्र साध्यतत्त्व (परमात्मा) शेष रह जाता है। तात्पर्य है कि साधक साधन करते–करते साधनरूप हो जाता है और साधनरूप होकर साध्यमें लीन हो जाता है।

जैसे घड़ा मिट्टीसे बनता है और अन्तमें मिट्टीमें ही मिल जाता है, ऐसे ही सब संसार परमात्मासे ही उत्पन्न होता है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है—'**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**' (गीता ७। ६)। अतः सब कुछ परमात्मा ही हुए—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

'हे धनंजय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्‌का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओतप्रोत है।'

योगवासिष्ठमें मयूरीके अण्डेका उदाहरण आया है कि जैसे उस एक अण्डेमेंसे अनेक तरहके रंगोंवाला पक्षी निकल आता है, ऐसे ही एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हो जाते हैं। जैसे—मनुष्य, पशु–पक्षी, वृक्ष–लता आदि सब मिट्टीसे बने हैं। भाई–बहनोंके तरह–

तरहके रंग-बिरंगे वस्त्र भी मिट्टीसे बने हैं। इसलिये इन सबको आग लगा दें तो अन्तमें एक मिट्टी शेष रह जायगी। ऐसे ही एक परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। परन्तु इसको भगवान्‌की कृपासे ही जान सकते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(मानस, अयोध्या० १२७। २)

वह भगवान्‌की कृपा हमारेपर है, तभी ऐसी बात हमें मिली है! अगर कृपा नहीं होती तो ऐसी बात मिल नहीं सकती थी। अपने बलसे, धनसे, विद्यासे, योग्यतासे, उद्योगसे ऐसी बात पढ़ने-सुननेको नहीं मिल सकती। भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे ही यह बात पढ़ने-सुननेको मिलती है।

भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें, स्वीकार कर लें।' तात्पर्य है कि जो भी चिन्तन करते हो, मेरा ही चिन्तन करते हो। जो भी सुनते हो, मेरेको ही सुनते हो। जो भी देखते हो, मेरेको ही देखते हो। जो भी चखते हो, मेरेको ही चखते हो। जो भी स्पर्श करते हो, मेरा ही स्पर्श करते हो। जो भी सूँघते हो, मेरेको ही सूँघते हो। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका विषय मैं ही हूँ। मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है। इससे बढ़कर कोई सिद्धान्त नहीं है। अन्तमें यहीं पहुँचना है। इसलिये इसको अभी वर्तमानमें ही स्वीकार कर लें।

५. गीताकी विलक्षण बात

भगवान्‌की कही हुई गीता बहुत ही विचित्र है! गीतापर ज्यों-ज्यों विचार करें, त्यों-ही-त्यों इसकी विलक्षणता मिलती ही चली जाती है। अगर मनुष्यको सम्पूर्ण संसारका आधिपत्य मिल जाय, इन्द्रका राज्य मिल जाय, कुबेरका धन मिल जाय, ब्रह्माजीका पद मिल जाय, तो भी उसका दुःख नहीं मिट सकता। परन्तु वह गीतामें कही हुई बात मान ले तो उसका दुःख टिक नहीं सकेगा; सदाके लिये मिट जायगा। उसका सन्ताप, जलन, उद्वेग, हलचल, चिन्ता, शोक, भय आदि सभी आफतें मिट जायँगी और वह सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जायगा अर्थात् उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहेगा; क्योंकि यह वास्तविकता है। गीताकी ऐसी विलक्षण महिमा है कि जिसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। कारण कि वर्णन करनेमें वाणी सीमित है, चिन्तन करनेमें मन सीमित है, निश्चय करनेमें बुद्धि सीमित है। परन्तु भगवान्‌की वाणी असीम है। प्रकृतिजन्य सम्पूर्ण पदार्थ सीमित हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वका वर्णन प्रकृतिका कार्य बुद्धि भी नहीं कर सकती, फिर मनुष्य क्या वर्णन करेगा! बुद्धि प्रकृतिको भी पूरा नहीं जान सकती, फिर प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको कैसे जानेगी ? जैसे, मिट्टीसे बना घड़ा मिट्टीको भी पूरा नहीं भर सकता, फिर आकाशको कैसे भरेगा?

गीता स्पष्टरूपसे कहती है—‘**वासुदेवः सर्वम्**’ (७। १९) ‘सब कुछ वासुदेव ही है’। इस बातको केवल स्वीकार कर लें। ऐसा देखनेमें, समझनेमें, अनुभवमें नहीं आये, तो भी गीतामें आये भगवान्‌के वचनको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दृढ़तासे स्वीकार कर लें। फिर भगवत्कृपासे यह बात स्वतः समझमें आ जायगी; क्योंकि तत्त्वसे वास्तवमें यही है। जैसी बात वास्तवमें है, वैसी बात मान लेनेसे वह धीरे-धीरे भीतर बैठ

जाती है और फिर भगवत्कृपासे साफ दीखने लग जाती है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह ऊँची-से-ऊँची बात है और बड़ी सुगमतासे प्राप्त की जा सकती है। अब इसकी प्राप्तिका साधन बताया जाता है।

(१)

भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेद, पुराण, शास्त्रका तात्पर्य भरा हुआ है! असत् और सत्—इन दोको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि नामोंसे कहा गया है। देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें, चिन्तन करनेमें, निश्चय करनेमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा देखते, सुनते, चिन्तन करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी असत् है। असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है—इसका तात्पर्य है कि एक सत्-तत्त्व (परमात्मा)-के सिवाय कुछ भी नहीं है।

यह सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि शरीर और संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते, प्रत्युत हरदम मिट रहे हैं। जैसे, पहले हम बालक थे। हमने बालकपनको कभी छोड़ा नहीं, फिर भी वह छूट गया। ऐसे ही जवानी भी छूट रही है, वृद्धावस्था भी छूट रही है और शरीर भी छूट रहा है। सब-का-सब संसार, तीनों लोक, चौदह भुवन, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड निरन्तर अभावमें जा रहे हैं—'**नासतो विद्यते भावः**'। परन्तु परमात्मा और उसके अंश जीवात्माका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**'। हमने अपने जीवनमें कई कथाएँ सुनी हैं, व्याख्यान सुने हैं, शास्त्र पढ़े हैं, पर ऐसा कहीं सुनने, पढ़नेमें नहीं आया

कि परमात्मा बदल गये, पहलेवाले नहीं रहे! परमात्मा तो 'है' और संसार 'नहीं' है—इन दोनोंके एक ही अन्त (तत्त्व)-का तत्त्वदर्शी, अनुभवी महापुरुषोंने अनुभव किया है अर्थात् इन दोनोंका निष्कर्ष एक परमात्मतत्त्व ही है—'**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**' (गीता २। १६)। तात्पर्य है कि सत् (अपरिवर्तनशील) और असत् (परिवर्तनशील)—दोनों अलग-अलग हैं। सत् असत् नहीं हो सकता और असत् सत् नहीं हो सकता; परन्तु तत्त्वसे दोनों एक ही हैं। गीतामें आया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

तात्पर्य है कि ब्राह्मण और चाण्डाल, गाय और कुत्ता, हाथी और चींटी—दोनों अलग-अलग होनेपर भी ज्ञानी उनमें एक समरूप परमात्माको देखता है। इसी तरह सत् और असत् अलग-अलग होनेपर भी भक्त उनमें एक भगवान्‌को ही देखता है—'**त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्**' (गीता ११। ३७)। जैसे दिन और रात—दोनों सापेक्ष हैं, दिनकी अपेक्षा रात है और रातकी अपेक्षा दिन है, पर सूर्यमें न दिन है, न रात है अर्थात् वह निरपेक्ष है। ऐसे ही सत् और असत् दोनों सापेक्ष हैं, पर परमात्मतत्त्व निरपेक्ष है। इसलिये तत्त्वदर्शी महापुरुष सत् और असत्—दोनोंके एक ही अन्त अर्थात् सत्-तत्त्व (परमात्मतत्त्व)-का अनुभव करते हैं।

जो 'है', वह तो है ही और जो 'नहीं' है, वह है ही नहीं—

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

जो मिट रहा है, वह संसार है और जो टिक रहा है, वह परमात्मा है। जैसे गंगाजीका प्रवाह निरन्तर बहता हुआ समुद्रमें जा रहा है। रात्रिमें हम छिपकर परीक्षा करें तो भी उसका प्रवाह ज्यों-का-त्यों बह

रहा है। गंगाजीको कोई देखे या न देखे, कोई जाने या न जाने, कोई माने या न माने, कोई परवाह नहीं। उसका प्रवाह तो निरन्तर अपने-आप, स्वाभाविक बह रहा है। ऐसे ही यह सब-का-सब संसार निरन्तर बह रहा है और बहते हुए अभाव (नाश)-की तरफ जा रहा है। इस बहते हुए संसारमें वह परमात्मा ही 'है'-रूपसे दीख रहा है। 'संसार है'—इसमें 'संसार' तो मिट रहा है और 'है' टिक रहा है।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७। ४)

यह जो संसार दीख रहा है, इसकी खुदकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत यह परमात्माकी ही एक आभा है, झलक है, प्रकाश है। अतः आभा (संसार)-पर दृष्टि न रखकर परमात्माकी तरफ ही दृष्टि रखना है, 'नहीं'को न देखकर 'है'को ही देखना है। इसीको गीताने '**वासुदेवः सर्वम्**' कहा है। तात्पर्य है कि वह सत् ही असत्-रूपसे दीख रहा है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परमात्मतत्त्व ही संसाररूपसे दीख रहा है। जैसे चनेका आटा (बेसन) गेहूँ, बाजरी आदिके आटेसे भी फीका होता है, उसमें मिठास नहीं होती। उस आटेकी बूँदी बनाते हैं। फिर उस बूँदीको चीनीकी चाशनीमें डाल देते हैं। इससे वह मीठी बूँदी बन जाती है। वह बूँदी खानेमें बड़ी मीठी लगती है। उस बूँदीके आठ-दस दाने मुखमें लेकर कुछ देर चूसते रहें तो वह बिलकुल फीकी हो जाती है। कारण कि वह तो फीकी ही थी। उसमें जो मिठास थी, वह उसकी न होकर चीनीकी थी। इसी तरह संसार भी फीका है अर्थात् संसारका जो 'है'-पना है, वह संसारका न होकर परमात्माका ही है। केवल रागके कारण ही संसार 'है'-पना दीखता है। परन्तु यह दृष्टान्त एकदेशीय है। कारण कि बूँदीको चूसनेसे उसकी मिठास तो निकल जाती है, पर फीका बेसन शेष रह जाता है। परन्तु परमात्माका अनुभव होनेपर संसारका संसाररूपसे अत्यन्त अभाव हो जाता है, कुछ भी नहीं बचता, प्रत्युत

परमात्मा ही बचते हैं—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**'।*

(२)

संसारमें दो चीजें हैं—पदार्थ और क्रिया। मात्र पदार्थ और क्रियाएँ भगवान्‌की हैं और भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि जितने भी पदार्थ हैं और जितनी भी क्रियाएँ हैं, उन सबको अपना न मानकर मेरे अर्पण कर दो—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

'जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि (यथासाध्य प्राप्त पदार्थ)-को भक्तिपूर्वक मेरे अर्पण करता है, उस मेरेमें तल्लीन हुए अन्तःकरणवाले भक्तके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहार (भेंट)-को मैं खा लेता हूँ अर्थात् अपनेमें मिला लेता हूँ—एक कर देता हूँ।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

धन, जमीन, मकान, कपड़े, गहने, अपना शरीर, माँ-बाप, स्त्री, बच्चे, भाई-बहन आदि जो कुछ है, सब-के-सब भगवान्‌के अर्पण कर दें। अर्पण करनेका अर्थ है—उनमें मेरापन छोड़ दें। अर्पण करनेसे वस्तुएँ तो तोलाभर भी घटेंगी नहीं, पर अर्पक (अर्पण करनेवाला)

---

* गीतामें आया है—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥' (४। ३७)। यहाँ भी ऐसा समझना चाहिये कि अग्निसे लकड़ियाँ जलनेपर राख शेष रह जाती है, पर ज्ञानरूपी अग्निसे कर्म जलनेपर कर्म और कर्मफल (पदार्थमात्र) कुछ भी शेष नहीं रहता, प्रत्युत परमात्मतत्त्व ही शेष रहता है।

निहाल हो जायगा। कारण कि अर्पित वस्तु भगवान्‌की और भगवत्स्वरूप ही थी। उसको अपना मानना अर्पककी गलती थी। अतः अर्पित करनेसे अर्पककी गलती, बेसमझी, आफत मिट जाती है। जैसे आहुति अग्निमें मिलकर अग्निरूप हो जाती है, ऐसे ही अर्पित वस्तु भगवान्‌में मिलकर भगवत्स्वरूप हो जाती है। अर्पण करनेसे भगवान्‌की पुष्टि हो जायगी, उनका खजाना बढ़ जायगा, यह बात भी नहीं है। भगवान्‌ने आत्मने पद '**कुरुष्व**' पदका प्रयोग किया है—'**तत्कुरुष्व मदर्पणम्**'। तात्पर्य है कि हम अर्पण करके भगवान्‌का घाटा नहीं मिटाते हैं, प्रत्युत अपना ही घाटा, अपनी ही आफत मिटाते हैं अर्थात् अर्पण करनेका हमें ही फल मिलेगा, हमारा ही कल्याण होगा। अगर ठीक अर्पण किया जाय तो अर्पक, अर्पण, अर्पित वस्तु और अर्प्य—चारों एक अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जायँगे। कारण कि अर्पक (अर्पण करनेवाला), अर्पणरूपी क्रिया, अर्पित वस्तु और अर्प्य (भगवान्)—चारों तत्त्वसे एक परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

ठाकुरजीको भोग लगाकर फिर प्रसाद देते हैं तो करोड़पति-अरबपति सेठ भी प्रसाद लेनेके लिये हाथ फैलाते हैं और एक कणका भी मिल जाय तो खुश हो जाते हैं। क्या वे मिठाईके भूखे हैं ? अगर हम कहें कि ये मिठाई माँगते हैं, इनको दस रुपयेकी मिठाई लाकर दे दो, तो वे नाराज हो जायँगे। कारण कि वे मिठाईके नहीं, प्रसादके भूखे हैं। ठाकुरजीके अर्पण करनेसे वह वस्तु प्रसाद हो गयी, महान् पवित्र अर्थात् भगवत्स्वरूप हो गयी! इसी तरह हम सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दें तो वह सब-का-सब प्रसाद हो जायगा। हम भोजन करें तो ठाकुरजीका प्रसाद, कपड़ा पहनें तो ठाकुरजीका प्रसाद, माताएँ-बहनें गहने पहनें तो ठाकुरजीका प्रसाद—सब कुछ ठाकुरजीका प्रसाद अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जायगा!

तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं । प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥

(मानस, अयोध्या० १२९। १)

भगवान्‌के अर्पण करनेका तात्पर्य है—मेरापन छोड़ना। मेरापन करनेसे वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं और मेरापन सर्वथा छोड़नेसे महान् पवित्र अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जाती हैं। आस्तिक गृहस्थोंके घरमें ठाकुरजीका मन्दिर होता है और माताएँ-बहनें घरवालोंसे पूछती हैं कि आज ठाकुरजीके लिये क्या बनेगा ? यह हमारी हिन्दू-संस्कृतिकी सभ्यता है। रसोई भी अपने लिये नहीं बनती, प्रत्युत ठाकुरजीके लिये बनती है। गीता कहती है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं, वे पापीलोग पापका ही भक्षण करते हैं।'

अगर यह कहें कि आज ठण्डी ज्यादा है, इसलिये ठाकुरजीको गरमागरम हलवेका भोग लगाओ, और अपने मुँहमें पानी आता हो तो यह ठाकुरजीके भोग नहीं लगेगा; क्योंकि यह जूठन हो गया। परन्तु ठाकुरजीके लिये बनी हुई रसोईमें नमककी परीक्षा करनेके लिये थोड़ी चीज लेकर (रसोईके बाहर जाकर) चख भी लें तो वह रसोई जूठी नहीं होगी। इस प्रकार मनमें खानेकी हो तो न चखनेपर भी वह जूठन हो जाता है और मनमें खानेकी न हो तो नमककी परीक्षाके लिये चखनेपर भी वह जूठन नहीं होता; क्योंकि भावकी प्रधानता है। इसलिये अपने मनमें खानेकी न हो और ठाकुरजीको भोग लगाया जाय। फिर उसको ठाकुरजीका प्रसाद समझकर आनन्दपूर्वक पाया जाय। अन्नकूटका प्रसाद होता है, उसमें रसगुल्ला भी होता है और करेलेका साग भी होता है। एक मीठा है, एक कड़वा है, पर दोनों ही प्रसाद हैं। प्रसादमें स्वाद-दृष्टि नहीं रखी जाती, प्रत्युत स्वादमें प्रसाद-दृष्टि रखी जाती है*; क्योंकि प्रसाद इन्द्रियोंका विषय नहीं है, प्रत्युत

* प्रसादमें स्वादबुद्धिकी मुख्यता नहीं रहनी चाहिये। स्वाद आ जाय तो वह दोषी नहीं है, पर स्वाद लेना दोषी है। स्वादका ज्ञान होना दोषी नहीं है, पर स्वादमें राग

भगवद्भावका विषय है। इसी तरह सम्पूर्ण पदार्थों और क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण कर दें तो वह सब ठाकुरजीका प्रसाद अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जायगा। कारण कि सब वस्तुएँ (क्रिया और पदार्थ) भगवान्‌की हैं तो वस्तुओंमें और भगवान्‌में कोई फर्क नहीं हुआ। जैसे धन धनवान्‌का है तो धनमें और धनवान्‌में कोई फर्क नहीं है; क्योंकि धनके बिना धनवान् नहीं है और धनवान्‌के बिना धन नहीं है (धन मिट्टीकी तरह है) क्रिया और पदार्थ प्रकृतिका कार्य (संसार) है और प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान्‌में एकता होती है। शक्तिके बिना शक्तिमान् नहीं है और शक्तिमान्‌के बिना शक्ति नहीं है*। अतः भगवान्‌की होनेसे सब वस्तुएँ भगवत्स्वरूप ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

ऐसा मान लें कि हम भगवान्‌के ही हैं, भगवान्‌के घरमें रहते हैं, भगवान्‌के ही घरका काम करते हैं, भगवान्‌का ही दिया हुआ प्रसाद पाते हैं और भगवान्‌के दिये हुए प्रसादसे भगवान्‌के ही जनोंकी सेवा करते हैं। इस बातको सब-के-सब मान सकते हैं। भाई हो या बहन हो, छोटा हो या बड़ा हो, समझदार हो या बेसमझ हो, पढ़ा-लिखा हो या अपढ़ हो, बीमार हो या स्वस्थ हो, किसी वर्णका हो, किसी आश्रमका हो, किसी वेशका हो, किसी देशका हो, किसी सम्प्रदायका हो सब-के-सब इस बातको मान सकते हैं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको तथा अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर सकते हैं। इस प्रकार समर्पण करनेसे क्या होगा? इसको भगवान् बताते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २८)

होना दोषी है।

* यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि शक्तिमान्‌के बिना शक्ति तो नहीं रहती, पर शक्तिके बिना शक्तिमान् रह सकता है; परन्तु उसकी 'शक्तिमान्' संज्ञा नहीं रहती; क्योंकि वह स्वतः स्वतन्त्र तत्त्व है। शक्ति स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है।

'इस प्रकार मेरे अर्पण करनेसे जिनसे कर्मबन्धन होता है, ऐसे शुभ (विहित) और अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे तू मुक्त हो जायगा। ऐसे अपनेसहित सब कुछ मेरे अर्पण करनेवाला और सबसे मुक्त हुआ तू मेरेको प्राप्त हो जायगा अर्थात् मेरा ही स्वरूप हो जायगा।'

जैसे अग्निमें ठीकरी, पत्थर तथा काले-से-काला कोयला भी डाल दें तो वह अग्निस्वरूप होकर चमकने लग जायगा, ऐसे ही भगवान्के अर्पण करनेसे अर्पित वस्तु (क्रिया और पदार्थ) तथा अर्पक—दोनों भगवत्स्वरूप होकर चमकने लग जायँगे।

एक अच्छे गृहस्थ सेठ थे। वे भगवान्के बड़े भक्त थे। उनका दर्शन करनेके लिये एक साधु उनके घर आये। साधु उनसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। साधुने उनका परिचय पूछा तो सेठने बताया कि मैं भी ठाकुरजीका हूँ और यह घर भी ठाकुरजीका है। सेठ साधुको अपना सब घर दिखाने लगे। साधुने पूछा—यह मोटर किसकी है? सेठ बोला—ठाकुरजीकी! ये चीजें किसकी हैं? ठाकुरजीकी! ये किसके बच्चे खेल रहे हैं? ठाकुरजीके! यह स्त्री किसकी है? ठाकुरजीकी! ये लोग कौन हैं? ठाकुरजीके! पूरा मकान देखते-देखते ऊपर गये तो वहाँ मन्दिर था। यह मन्दिर किसका है? ठाकुरजीका! यह सामान किसका है? ठाकुरजीका! ये सोने-चाँदीके बर्तन किसके हैं? ठाकुरजीके! ये वस्त्र किसके हैं? ठाकुरजीके! ये गहने किसके हैं? ठाकुरजीके! साधुने ठाकुरजीकी तरफ संकेत करके पूछा—ये किसके हैं? सेठ बोला—ये तो मेरे हैं*! तात्पर्य है कि सब चीजें ठाकुरजीकी और ठाकुरजीके स्वरूप हैं, और ठाकुरजी हमारे हैं तो ठाकुरजीकी चीजें हमारी ही हुईं, पर ठाकुरजीके द्वारा हमारी होनेसे वे महान् शुद्ध हो गयीं,! और स्वतन्त्र हमारी होनेसे महान् अशुद्ध हो गयीं!

* तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा पिण्ड परान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यह दादू का ग्यान॥

रतनगढ़के सन्त बखतनाथजी महाराजकी बात सुनी है। वे बड़े ऊँचे महात्मा थे। असमसे एक आदमी उनके लिये एक बढ़िया एरण्डी लाया और उनके पास रखकर बोला कि महाराज! सरदीके समय इसको आप काममें लें। कुछ देरके बाद एक पण्डितजी आये। उन्होंने वह एरण्डी अपने हाथमें लेकर देखी और उसकी प्रशंसा करते हुए कहा कि महाराज! यह कपड़ा तो बड़ा अच्छा है! देखकर उसको रख दिया। जब पण्डितजी जाने लगे, तब महात्माने कहा कि इस एरण्डीको आप ले जाओ। पण्डितजी बोले कि महाराज! यह तो आपके लिये आयी है। वह आदमी बड़े प्रेमसे आपके लिये लाया है; अतः आप रखें। महात्मा बोले कि नहीं पण्डितजी! इसको आप ले जायँ। पण्डितजी बोले कि मैं कैसे ले जाऊँ? यह तो आपकी ही है। महात्मा बोले कि यह हमारे कामकी नहीं है। आप बुरा मत मानना, आपको यह पसन्द आ गयी तो अब यह आपकी हो गयी! पण्डितजीको लेनेमें बड़ा संकोच हुआ, पर महात्माने वह एरण्डी उनको जबर्दस्ती दे ही दी। कारण यह था कि पण्डितजीका उस एरण्डीमें मन चलनेसे वह उच्छिष्ट, अशुद्ध हो गयी, महात्माके कामकी नहीं रही। इसी तरह जिस वस्तुमें हमारा मन चल जाता है, हमारा राग हो जाता है, वह वस्तु अशुद्ध हो जाती है।

अपनी मानते ही वस्तु अशुद्ध हो जाती है और भगवान्‌की मानते ही वह शुद्ध और भगवत्स्वरूप हो जाती है। इसी तरह अपने-आपको भगवान्‌से अलग मानते ही हम अशुद्ध हो जाते हैं और भगवान्‌का मानते ही शुद्ध और भगवत्स्वरूप हो जाते हैं। वास्तवमें सब वस्तुएँ भगवान्‌की और भगवत्स्वरूप ही हैं। उनको हमने भगवान्‌से अलग और अपना मान लिया, यह हमारी भूल है। इस भूलको मिटाना है। इस भूलको मिटा दें तो शुभ-अशुभ कर्मोंका बन्धन मिट जायगा और '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जायगा।

प्रश्न—हमारे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप जो वस्तु हमें मिलती

है, वह हमारी ही तो हुई! फिर उसको हम अपना क्यों न मानें ?

उत्तर—जिससे हमने कर्म किये, वह क्रियाशक्ति भी हमारी नहीं है और उसके फलस्वरूप मिलनेवाली वस्तु भी हमारी नहीं है। कारण कि क्रियाशक्ति और वस्तु—दोनों ही भगवान्‌से मिली हुई हैं और बिछुड़नेवाली हैं। शरीर कमजोर हो जाय, लकवा मार जाय तो हम क्या कर सकते हैं? कर्मफल भी अपना नहीं है; अतः उसका भोग बाँधनेवाला है— '**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)। कर्म, कर्म-सामग्री, करनेकी योग्यता, बल आदि कुछ भी अपना नहीं है। इतना ही नहीं, कर्म करनेका विवेक भी अपना नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌से मिला हुआ है।

जो वस्तु सदा हमारे साथ नहीं रह सकती और जिसके साथ हम सदा नहीं रह सकते, जिसपर हमारा आधिपत्य नहीं चलता, जो मिली है तथा बिछुड़नेवाली है, वह वस्तु अपनी कैसे हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती। जो वस्तु अपनी है ही नहीं, उसकी कामना कैसे होगी? उसके त्यागका अभिमान भी कैसे आयेगा? उसको अपना मान लिया—यह बेईमानी थी। उसका त्याग कर दिया तो केवल अपनी बेईमानीका ही त्याग किया। इसमें अभिमान किस बातका? बेईमानीके त्यागका नाम ही मुक्ति है।

जो वस्तु हमारी नहीं है, प्रत्युत दूसरेकी (भगवान्‌की) है और जो निरन्तर हमारा त्याग कर रही है, उसका भी त्याग अगर कठिन है तो फिर सुगम क्या है? उसको अपना मानकर अपने पास रखनेमें ही कठिनता पड़ती है, उसका त्याग करनेमें क्या कठिनता है? अगर ऐसा मानें कि त्याग करना कठिन है, तो उसको अपने पास रखना असम्भव है। असम्भवकी अपेक्षा तो कठिन भी सुगम ही है। एक जवान लड़केने मुझे बताया कि 'हमारे मकानमें रहनेवाली एक युवा लड़की बार-बार कुचेष्टा करती थी, पर मैं कभी विचलित नहीं हुआ! मैंने कहा कि 'तुम बड़े जितेन्द्रिय हो' तो वह बोला कि 'मैं बड़ा जितेन्द्रिय

हूँ—यह बात नहीं है, प्रत्युत केवल इस बातसे मैं विचलित नहीं हुआ कि उस लड़कीपर मेरा हक नहीं लगता!' अतः जिस वस्तुपर हमारा हक नहीं लगता, जो हमारी नहीं है, उसको हम अपना कैसे स्वीकार करें? उसको अपना और अपने लिये स्वीकार करना बेईमानी है। सब दुःख, सन्ताप, नरक, जन्म-मरण आदि इस बेईमानीके ही फल हैं। इस बेईमानीके कारण ही संसार दुःखदायी होता है, जो कि वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही है। अगर इस बेईमानीका त्याग कर दें अर्थात् एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीको भी अपना न मानें तो '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव हो जायगा।

६. अपने प्रभुको कैसे पहचानें ?

सन्तोंने कहा है—

सब जग ईश्वर रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

यह सम्पूर्ण संसार साक्षात् परमात्माका स्वरूप है। इसमें भला-बुरा, अच्छा-मन्दा, गुण-दोष आदि दो चीजें हैं ही नहीं। रामायणमें आया है—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस, उत्तर० ४१)

तात्पर्य है कि गुण और दोष मायाकृत हैं, भगवान्में नहीं हैं। जो लोग मायासे मोहित हैं, उन्हींकी दृष्टिमें ये दोनों भगवान्में दीखते हैं। असली गुण है—गुण और दोष दोनोंको ही न देखना—'**गुन यह उभय न देखिअहिं**'। इन दोनोंको देखना अविवेक है।

'**गुन यह उभय न देखिअहिं**'के दो अर्थ होते हैं—(१) गुण और दोषको न देखकर गुण-ही-गुण देखना, और (२) गुण और दोषको न देखकर परमात्माको ही देखना, जो कि गुण-दोषसे रहित और गुणातीत है। गुण और दोषको देखना अविवेक है, अज्ञान है, मूर्खता है, जडता है—'**देखिअ सो अबिबेक**'। कारण कि वास्तवमें संसार साक्षात् भगवान् ही है—'**सब जग ईश्वररूप है**'। यह ईश्वरका सर्वोपरि रूप है! ईश्वर भला और बुरा—दो नहीं हो सकता। ईश्वर एक ही होता है।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४। ११)

'जो जिस भावसे मेरा भजन करते हैं, मैं भी उसी भावसे उनका भजन करता हूँ।'

अतः हम भले और बुरे—दो रूपोंको देखते हैं तो भगवान् भी भले और बुरे—दो रूपोंसे प्रकट हो जाते हैं, और हम भले-बुरेको न देखकर भगवान्‌को देखते हैं तो भगवान् भी अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो जाते हैं—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

(मानस, बाल० २४१। २)

एक सन्त थे। कोई उनसे कहता कि 'महाराज! आप तो बहुत बड़े महात्मा हैं' तो वे कहते—'रामजी!' कोई कहता कि आप बड़े ठग हैं' तो वे कहते—'रामजी!' कोई कहता कि 'आप तो बड़े अच्छे हैं' तो वे कहते—'रामजी!' कोई कहता कि 'आप तो बहुत बुरे हैं' तो वे कहते —'रामजी!' तात्पर्य है कि सब कुछ रामजी ही हैं, फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा? '**जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय**'। भावना ही करनी हो तो बढ़िया भावना करें, घटिया भावना क्यों करें? मनके लड्डू बनायें तो उसमें घी और चीनी कम क्यों डालें? इसमें कौन-सा खर्चा लगता है? इसलिये बढ़िया-से-बढ़िया भावना करनी चाहिये। वह बढ़िया-से-बढ़िया भावना है—'**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। यह कोरी भावना ही नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। इसको स्वीकार करनेमें न तो कोई परिश्रम करना पड़ता है और न अपनेमें कोई विशेष योग्यता लानी पड़ती है, फिर इसको माननेमें क्या बाधा है? यह सरल-से-सरल और ऊँचा-से-ऊँचा साधन है।

प्रश्न—संसारमें कोई दुराचारी दीखे तो उसको भगवत्स्वरूप कैसे मानें?

उत्तर—ऐसा मानना चाहिये कि वे भी भगवान् ही हैं, पर अभी कलियुगकी लीला कर रहे हैं। अभी कलियुग है, इसलिये वे युगके अनुसार लीला करते हैं। भगवान्‌ने वराहरूप धारण किया तो वराहकी तरह ही आचरण किया। वराहभगवान्‌को देखकर हिरण्याक्ष उनको

'वनगोचर मृग' (जंगली जानवर) कहकर पुकारता है और भगवान् उसको 'ग्रामसिंह' (कुत्ता) कहकर पुकारते हैं (श्रीमद्भा० ३। १८। २, १०)। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला करते हैं।

प्रश्न—संसारको परमात्माका स्वरूप भी कहते हैं और दुःखोंका घर भी कहते हैं—'**दुःखालयमशाश्वतम्**' (गीता ८। १५)। अगर यह परमात्माका स्वरूप है तो दुःखोंका घर कैसे और दुःखोंका घर है तो परमात्माका स्वरूप कैसे?

उत्तर—ये दोनों बातें ठीक हैं। जो संसारसे कुछ नहीं चाहता, प्रत्युत दूसरोंकी सेवा करता है, उनको सुख देता है, उसके लिये संसार परमात्माका स्वरूप है और जो संसारसे सुख लेना चाहता है, उसके लिये संसार दुःखोंका घर है। सुख चाहनेवालेको दुःख मिलेगा ही—यह अकाट्य नियम है।

भक्तियोगकी दृष्टिसे सब संसार भगवान्‌का स्वरूप है और ज्ञानयोगकी दृष्टिसे संसार असत्, जड़ तथा दुःखरूप है। ज्ञानयोगमें विवेक मुख्य रहता है और विवेकमें सत्-असत्, जड-चेतन, नित्य-अनित्य, नाशवान्-अविनाशी दोनों रहते हैं। विवेकी पुरुष संसारको दुःखरूप मानकर उसका त्याग करता है—'**दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**' (योगदर्शन २। १५)। इसलिये ज्ञानकी दृष्टिसे संसारका त्याग करना है और भक्तिकी दृष्टिसे सबको भगवत्स्वरूप मानकर प्रणाम करना है। भागवतमें आया है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १६)

'अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवाह न करे, प्रत्युत अपने शरीरको लेकर जो लज्जा आती है, उसको भी छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर लम्बा गिरकर साष्टांग प्रणाम करे।'

भक्त कुत्ते, चाण्डाल आदिको प्रणाम नहीं करता, प्रत्युत उन रूपोंमें आये भगवान्‌को प्रणाम करता है। जब भगवान् राम भरद्वाजजीसे मिलते हैं, तब भरद्वाजजी भगवान्‌को प्रणाम करते हैं और भगवान् भरद्वाजजीको प्रणाम करते हैं—

मुनि रघुबीर परसपर नवहीं। बचन अगोचर सुखु अनुभवहीं॥

(मानस, अयोध्या० १०८। २)

भगवान् राम तो क्षत्रिय होनेसे ब्राह्मणको प्रणाम करते हैं और भरद्वाजजी भक्त होनेसे भगवान्‌को प्रणाम करते हैं। इस प्रकार एक-दूसरेको प्रणाम करनेसे उनको अलौकिक, विलक्षण आनन्द मिलता है! इसी तरह संसारमें अनेक रूपोंसे प्रकट हुए भगवान्‌को प्रणाम करके आनन्दित होना चाहिये। संसारमें जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌का ही शरीर है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

चाहे अद्वैतवाद मानें, चाहे विशिष्टाद्वैतवाद मानें, चाहे द्वैतवाद मानें, चाहे द्वैताद्वैतवाद मानें, चाहे शुद्धाद्वैतवाद मानें, चाहे अचिन्त्य भेदाभेदवाद मानें, सबमें परमात्मा एक ही हैं। परमात्माको चाहे द्विभुजी मानें, चाहे चतुर्भुजी मानें, चाहे सहस्रभुजी (विराट्‌रूप) मानें, चाहे साकार मानें, चाहे निराकार मानें, चाहे नराकार (राम,कृष्ण आदि) मानें, चाहे नीराकार (गंगाजी) मानें, चाहे निर्गुण मानें, चाहे सगुण मानें, परमात्मा तो एक ही हैं। वे एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। सब-के-सब रूप एक ही समग्र परमात्माके अंग हैं। किसी भी एक अंगको पकड़ लें तो समग्र परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

परमात्माके एक नामको ही पकड़ लें, तो उसीसे समग्र परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी!

परमात्मा पूर्ण हैं। ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ परमात्मा न हों—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३। १३)

'वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं।'

कलम और स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? जानकार आदमी उस एक ही कलम और स्याहीसे अनेक लिपियाँ लिख देता है। सोनेकी डलीमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? सुनार उस एक डलीमेंसे कड़ा, कण्ठी, हार, नथ आदि अनेक गहने निकाल लेता है। इसी तरह लोहेमें किस जगह कौन-सा अस्त्र-शस्त्र नहीं है ? मिट्टी और पत्थरमें किस जगह कौन-सी मूर्ति नहीं है ? ऐसे ही भगवान्‌में किस जगह क्या नहीं है? भगवान्‌से ही यह सब सृष्टि पैदा हुई है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है। पहले भी वही है, पीछे भी वही है, फिर बीचमें दूसरी चीज कैसे आये, कहाँसे आये? इस बातको दृढ़तासे स्वीकार कर लें तो फिर भगवान् दीखने लग जायँगे; क्योंकि वास्तवमें हैं ही वही!

जैसे, मिट्टीसे पैदा होनेवाली सब चीजें मिट्टी ही होती हैं। इसकी परीक्षा करनी हो तो लोहेकी एक परात लें। उसमें सूखी मिट्टी तौलकर डाल दें। फिर उसमें गेहूँ भी तौलकर बो दें और जल डालते रहें। कुछ दिनोंमें गेहूँके पौधे हो जायँगे। अब मिट्टीको (सर्वथा सूखनेके बाद) तौलकर देखें तो मिट्टी कम निकलेगी। परन्तु मिट्टीके साथ-साथ गेहूँके पौधोंको भी तौलें तो कुल वजन उतना ही निकलेगा, जितना

पहले केवल मिट्टीका था। इससे यह सिद्ध हुआ कि जितनी मिट्टी कम हुई थी, उतनी पौधोंके रूपमें परिणत हो गयी। अतः गेहूँके पौधे मिट्टी ही हुए! गेहूँको खा लें अथवा पीस दें तो वे मिट्टी ही हो जायँगे। ऐसे ही हमारे शरीर भी मिट्टीके ही बने हुए हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही मिल जायँगे। इसी तरह यह सब संसार परमात्मासे ही बना हुआ है। अतः कोई-सा भी रूप दीखे, वह परमात्मा ही है—ऐसा दृढ़तापूर्वक मान लें तो असली ज्ञान हो जायगा। कितना सुगम और सरल साधन है!

एक बाबाजी कहीं जा रहे थे। रास्तेमें एक खेत आया। बाबाजी वहाँ लघुशंकाके लिये (पेशाब करने) बैठ गये। पीछेसे खेतके मालिकने उनको देखा तो समझा कि हमारे खेतमेंसे मतीरा चुराकर ले जानेवाला यही है; क्योंकि खेतमेंसे मतीरोंकी चोरी हुआ करती थी। उसने पीछेसे आकर बाबाजीके सिरपर लाठी मारी और बोला—'हमारे खेतसे मतीरा चुराता है?' बाबाजी बोले—'भाई! मैं तो लघुशंका कर रहा था!' कृषकने बाबाजीको देखा तो बहुत दुःखी हुआ और बोला—'महाराज! मेरेसे बड़ा कसूर हो गया! मैं समझा था कि यह मतीरा चुरानेवाला है।' बाबाजी बोले—'तेरा कसूर है ही नहीं; क्योंकि तूने तो चोरको मारा है, मेरेको थोड़े ही मारा है! क्या तूने साधु समझकर मारा है?' कृषक बोला—'नहीं महाराज! चोर समझकर मारा है। अब मैं क्या करूँ?' बाबाजी बोले—'जिसमें तेरी प्रसन्नता हो, वह कर।' बाबाजीके सिरमें लाठी लगनेसे रक्त निकल रहा था और पीड़ा हो रही थी। कृषक उनको गाड़ीपर बैठाकर अस्पताल ले गया और वहाँ भरती कर दिया। वहाँ उनकी मरहम-पट्टी करके उनको सुला दिया। थोड़ी देर बाद एक नौकर दूध लेकर आया और बाबाजीसे बोला—'महाराज! यह दूध लाया हूँ, पी लीजिये।' बाबाजी पहले हँसे, फिर बोले—'वाह! वाह! तू बड़ा विचित्र बहुरुपिया है, पहले लाठी मारता है, फिर दूध पिलाता है!' वह आदमी बोला—

'महाराज! मैंने लाठी नहीं मारी है, लाठी मारनेवाला दूसरा था!' बाबाजी बोले—'नहीं, मैं तुझे पहचानता हूँ, लाठी मारनेवाला तू ही था। तेरे सिवाय दूसरा कौन आये, कहाँसे आये और कैसे आये? बता! यह केवल तेरी ही लीला है!' इस प्रकार बाबाजीकी दृष्टि तो '**वासुदेवः सर्वम्**'पर थी, पर वह आदमी डर रहा था कि बाबाजी कहीं मेरेको फँसा न दें! तात्पर्य है कि सब रूपोंमें भगवान् ही हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(मानस, बाल० ८। १)

भगवान्‌के एक-एक रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं—

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

(मानस, बाल० २०१)

वास्तवमें उन ब्रह्माण्डोंके रूपमें भगवान् ही प्रकट हुए हैं! इस वास्तविक बातको स्वीकार करनेके लिये न कोई पोथी पढ़नी है, न कोई ध्यान करना है, न कोई चिन्तन करना है, न श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना है, न आँख मीचनी है, न नाक दबानी है, न योगाभ्यास करना है, न प्राणायाम करना है, न जंगलमें जाना है, न गुफामें जाना है, न हिमालयमें जाना है! केवल अनेक रूपोंमें आये अपने प्यारे प्रभुको पहचान लेना है और मस्त रहना है अथवा प्रभुकी दी हुई शक्तिसे जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि सब कुछ उन्हींके लिये करना है।

प्रश्न—सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसको ठीक तरहसे मान लिया तो क्या अब कुछ करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहा?

उत्तर—यदि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव हो गया है, तब तो ठीक है, नहीं तो केवल सीख लिया है। सीखकर मनुष्य अभिमान कर लेता है कि मैं तो सिद्ध हो गया! इससे उसका पतन हो जाता है। कारण कि अभिमान होनेसे मनुष्य अपनेको ज्ञानी और दूसरोंको अज्ञानी समझता है। इससे दूसरोंके प्रति द्वेष, घृणा, क्रोध पैदा होता है,

जबकि '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव होनेपर किसीके भी प्रति द्वेष, वैर, घृणा, क्रोध आदि नहीं होते*। अगर वह जाननेके उद्देश्यसे ही 'सब कुछ परमात्मा है'—ऐसा मानता है तो वह भगवत्कृपासे जान लेता है।

जैसे हमें 'मैं हूँ'—इस प्रकार अपने होनेपनका स्पष्ट अनुभव होता है, इसमें कभी किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं होता, ऐसे ही 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका स्पष्ट अनुभव होना चाहिये। ऐसा अनुभव होनेपर संसारका राग, सुखासक्ति सर्वथा मिट जाती है और संसार संसाररूपसे रहता ही नहीं, प्रत्युत भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं रहता, केवल भगवान्-ही-भगवान् रहते हैं; क्योंकि वास्तवमें भगवान् ही हैं। ऐसा अनुभव करनेके लिये भगवान्में अपनी स्थिति नहीं करनी है, प्रत्युत अपने-आपको भगवान्के समर्पित कर देना है। अगर उसमें अपनी स्थिति करेंगे तो अहम् (स्थिति करनेवाला) बना रहेगा। इसलिये '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव करनेमें शरणागति मुख्य है। शरणागतिमें साधक पहले भगवान्के आश्रित होता है, फिर उसीमें मिल जाता है। जैसे, पहले कन्याका विवाह होता है, फिर वह अपने गोत्रको छोड़कर पतिके गोत्रवाली हो जाती है। ऐसे ही पहले भक्त 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार भगवान्के आश्रित होता है, फिर उसके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम् सब भगवान्में लीन हो जाते हैं अर्थात् केवल भगवान्-ही-भगवान् रह जाते हैं। दूसरे शब्दोंमें, पहले साधक 'मैं' और 'मेरा' को छोड़कर 'तू' और 'तेरा'को स्वीकार करता है, फिर केवल तू-ही-तू रह जाता है। यही '**वासुदेवः सर्वम्**' है।

---

* उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
(मानस, उत्तर० ११२ ख)

७. भगवान्‌का अलौकिक समग्ररूप

भगवान्‌का यह स्वभाव है कि जो जिस प्रकारसे उनका आश्रय लेता है, वे भी उसी प्रकारसे उसको आश्रय देते हैं और जो जिस भावसे उनका भजन करता है, वे भी उसी भावसे उसका भजन करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

जब भगवान्‌की बात चलती है, तब भक्त उसीमें मस्त हो जाता है और दूसरी सब बातें भूल जाता है। इसी तरह गीताजीमें छठे अध्यायके अन्तमें भक्तकी बात चली—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(गीता ६। ४६)

'तपस्वियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है—ऐसा मेरा मत है। अतः हे अर्जुन! तू योगी हो जा।'

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मेरेमें तल्लीन हुए मनसे (प्रेमपूर्वक) मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।'

भक्तकी बात चलनेपर भगवान् उसीमें मस्त हो गये, दूसरी सब बातें भूल गये और अर्जुनके द्वारा प्रश्न किये बिना ही भक्तिकी बात कहनेके लिये अपनी तरफसे सातवाँ अध्याय शुरू कर दिया! भगवान्‌ने कहा कि मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिससे तू मेरे समग्ररूपको जान जायगा। मेरे समग्ररूपको जाननेके बाद फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा; क्योंकि जब मेरे सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ है ही नहीं, फिर

जानना क्या बाकी रहा?—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।**' (गीता ७। ७), '**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।**' (गीता ४। ३५)। भगवान्‌के इस समग्ररूपको शरणागत भक्त ही जान सकते हैं। इसलिये जो भक्त भगवान्‌की शरण लेकर लगनपूर्वक साधन करते हैं, वे विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेते हैं। भगवान् कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७। २९-३०)

'जरा और मरणसे मोक्ष पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको भी जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे युक्तचेता मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), अध्यात्म (अनन्त जीव) तथा अखिल कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकी सम्पूर्ण क्रियाएँ)—यह '**ज्ञान**'का विभाग है और अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत्), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता), तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह '**विज्ञान**'का विभाग है। ज्ञानके विभागमें निर्गुणकी और विज्ञानके विभागमें सगुणकी मुख्यता है।

गीतामें भगवान्‌ने दो निष्ठाएँ बतायी हैं—कर्मयोग और ज्ञानयोग। ये दोनों ही निष्ठाएँ लौकिक हैं—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा**' (गीता ३। ३)। परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। कारण कि कर्मयोगमें 'क्षर' (संसार)-की प्रधानता है और ज्ञानयोगमें 'अक्षर' (जीवात्मा)-

की प्रधानता है। क्षर और अक्षर—दोनों ही लोकमें हैं।—‘**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**’ (गीता १५। १६)। इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। परन्तु भक्तियोगमें ‘परमात्मा’ की प्रधानता है, जो क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

(गीता १५। १७)

‘उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो परमात्मा नामसे कहा गया है।’

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

(गीता १५। १८)

‘मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ।’

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेताश्वतर० १। १०)

‘प्रकृति तो क्षर (नाशवान्) है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अक्षर (अविनाशी) है। इन क्षर और अक्षर—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।’

इसलिये भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। भगवान्‌के समग्ररूपमें ब्रह्म, अध्यात्म तथा कर्म—इनमें लौकिक निष्ठा (कर्मयोग और ज्ञानयोग)–की बात आयी है और अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ—इनमें अलौकिक निष्ठा (भक्तियोग)–की बात आयी है।

ज्ञान लौकिक है* और विज्ञान अलौकिक है। आत्मज्ञान लौकिक है और परमात्मज्ञान अलौकिक है। मुक्ति लौकिक है और प्रेम अलौकिक है। करणसापेक्ष साधन लौकिक है और करणनिरपेक्ष साधन अलौकिक है। लौकिक तथा अलौकिक—दोनों ही समग्रभगवान्‌के रूप हैं।

प्रश्न—ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म—ये तीनों लौकिक कैसे हैं?

उत्तर—भगवान्‌ने ब्रह्मको ‘अक्षर’ कहा है—‘**अक्षरं ब्रह्म परमम्**’

---

* न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (गीता ४। ३८)
‘इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई साधन नहीं है।’

(गीता ८। ३) और जीवको भी 'अक्षर' कहा है—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**' (गीता १५। १६)। अतः ब्रह्म और जीवकी एकता होनेसे ब्रह्म भी लौकिक है। इसलिये जीव और ब्रह्मको एक माना गया है—'**जीवो ब्रह्मैव नापरः**'। क्षेत्रके साथ सम्बन्ध होनेसे जो 'जीव' कहलाता है, वही क्षेत्रके साथ सम्बन्ध न होनेसे 'ब्रह्म' कहलाता है—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।**' (गीता १३। २)। तात्पर्य है कि जो व्यष्टिरूपसे जीव है, वही समष्टिरूपसे ब्रह्म है। अतः जैसे जीव लोकमें है, ऐसे ही ब्रह्म भी लोकमें है अर्थात् ब्रह्म लौकिक निष्ठासे प्रापणीय तत्त्व है।

'अध्यात्म' अर्थात् जीवने जगत्‌को धारण किया हुआ है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥**' (गीता ७। ५)। जीवकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये जगत्‌के संगसे जीव भी जगत् अर्थात् लौकिक हो जाता है। अतः गीतामें जीवके लिये 'जगत्' शब्द भी आया है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७। १३)

'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सब जगत् इन गुणोंसे पर अविनाशी मेरेको नहीं जानता।'

लोकमें होनेके कारण जीव लौकिक है—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**' (गीता १५। १६), '**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५। ७)।

कर्म दो प्रकारके होते हैं—सकाम और निष्काम। ये दोनों ही कर्म लोकमें होनेसे लौकिक हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः॥ (गीता ३। ९)
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ (गीता ४। १२)
'**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके**' (गीता १५। २)

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)*

प्रश्न—अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—ये तीनों अलौकिक कैसे हैं?

उत्तर—अधिभूत अर्थात् सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत् भगवान्‌का शरीर होनेसे अलौकिक ही हुआ—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

भगवान्‌ने अर्जुनको अपना जो विराट्‌रूप दिखाया था, वह दिव्य (अलौकिक) था—'**नानाविधानि दिव्यानि**' (गीता ११। ५), '**अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्**' (गीता ११। १०), '**दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्**' (गीता ११।११), '**ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्**' (गीता ११।१५)। वह दिव्य विराट्‌रूप भगवान्‌ने अपने शरीरमें ही दिखाया था—

भगवान्‌के वचन हैं—'**मम देहे गुडाकेश**' (११।७)

संजयके वचन हैं—'**अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे**' (११।१३)

अर्जुनके वचन हैं—'**पश्यामि देवांस्तव देव देहे**' (११।१५)

अतः भगवान्‌का ही विराट्‌रूप होनेसे यह पांचभौतिक जगत् भी अलौकिक ही है। भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंको भी दिव्य कहा है—

* गीतामें 'लोक' शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। इसको जाननेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-दर्पण' ग्रन्थमें 'गीताका अनेकार्थ-शब्दकोश' देखना चाहिये।

‘**हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः**’ (१०। १९), ‘**नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप**’ (१०। ४०)। अर्जुनने भी कहा है—‘**वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः**’ (१०। १६)। परन्तु जीवको अज्ञानवश अपनी बुद्धिसे राग-द्वेषके कारण यह जगत् लौकिक दीखता है। इसलिये जगत् न तो महात्माकी दृष्टिमें है और न भगवान्‌की दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है। महात्माकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान् ही हैं—‘**वासुदेवः सर्वम्**’ (गीता ७। १९), भगवान्‌की दृष्टिमें सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं—‘**सदसच्चाहमर्जुन**’ (गीता ९। १९), पर जीवने राग-द्वेषके कारण जगत्‌को अपनी बुद्धिमें धारण कर रखा है—‘**ययेदं धार्यते जगत्**’ (गीता ७। ५)।

अधिदैव अर्थात् ब्रह्माजी आदि सभी देवता अलौकिक, दिव्य हैं। अधियज्ञ अर्थात् अन्तर्यामी भगवान् सबके हृदयमें रहते हुए भी निर्लिप्त होनेके कारण अलौकिक हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

‘एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके सुख-दुःखरूप कर्मफलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, पर दूसरा (परमात्मा) न खाता हुआ केवल देखता रहता है।’

समग्ररूप बतानेका तात्पर्य है कि जड़-चेतन, सत्-असत् जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌का ही स्वरूप है—‘**सदसच्चाहमर्जुन**’ (गीता ९। १९)। इसलिये भगवान्‌ने समग्ररूप वर्णनके आदि और अन्तमें ‘**माम्**’ पद दिया है—‘**मामाश्रित्य**’ (गीता ७। २९) और ‘**मां ते विदुः**’ (गीता ७। ३०)। सब कुछ भगवान् ही हैं—इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेते हैं, वे ‘**युक्तचेता**’ हैं। ऐसे युक्तचेता

भक्त अन्तकालमें मनके विचलित होनेपर भी योगभ्रष्ट नहीं होते, प्रत्युत भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं—‘**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः**’। कारण कि उनकी दृष्टिमें जब भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी दूसरी सत्ता है ही नहीं, तो फिर मनके विचलित होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। दूसरी सत्ताकी मान्यता न होनेके कारण उनका मन जहाँ जायगा, परमात्मामें ही जायगा, फिर उनका मन कैसे विचलित होगा और मनके विचलित हुए बिना वे योगभ्रष्ट कैसे होंगे? कारण कि योगसे मनके विचलित होनेपर ही मनुष्य योगभ्रष्ट होता है— ‘**योगाच्चलितमानसः**’ (गीता ६। ३७)। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

‘हे पार्थ! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।’

एक मार्मिक बात है कि जबतक साधक एक भगवान्‌की सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता मानेगा, तबतक उसका मन सर्वथा निरुद्ध नहीं हो सकता। कारण कि जबतक अपनेमें दूसरी सत्ताकी मान्यता है, तबतक रागका सर्वथा नाश नहीं हो सकता और रागका सर्वथा नाश हुए बिना मन सर्वथा निर्विषय नहीं हो सकता। रागके रहते हुए मनका सीमित निरोध होता है, जिससे लौकिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। दूसरी सत्ताकी मान्यता रहते हुए जो मन निरुद्ध होता है, उसमें व्युत्थान होता है अर्थात् उसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कारण कि दूसरी सत्ता माने बिना दो अवस्थाएँ सम्भव ही नहीं हैं। दूसरी सत्ताकी मान्यता न रहनेके कारण भक्तका प्रेम भी अनन्य होता है। अतः जैसे व्यवहारमें एकता करना महान् गलती है, ऐसे ही तत्त्व (चिन्मय सत्ता)-में भेद करना भी महान् गलती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।

(मानस, बाल० ६)

तात्पर्य है कि जड़ और चेतन—दोनों ब्रह्माजीकी सृष्टिमें होनेसे लौकिक हैं। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

(गीता १५। १६)

'इस लोकमें क्षर और अक्षर—ये दो प्रकारके पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर क्षर (नाशवान्) हैं और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर (अविनाशी) कहा गया है।'

इस दृष्टिसे क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, देह और देही, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये सभी लौकिक हैं।

दैवी सम्पत्ति मुक्त करनेवाली और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली है—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता**' (गीता १६। ५)। दैवी और आसुरी—दोनों ही सम्पत्तिवाले प्राणी लौकिक हैं—'**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च**' (गीता १६। ६)। इसलिये मोक्ष और बन्धन भी लौकिक हैं।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(आत्मोपनिषद् ३१, माण्डूक्यकारिका २। ३२, तत्त्वोपदेश ८१, विवेकचूड़ामणि ५७५)

'न प्रलय है और न उत्पत्ति है, न बद्ध है और न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है—यही परमार्थता अर्थात् वास्तविक तत्त्व है।'

तात्पर्य है कि बन्धन और मोक्ष—दोनों ही सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं। निरपेक्ष तत्त्वमें न बन्धन है और न मोक्ष है। अतः वास्तविक तत्त्व अलौकिक है। इसलिये प्रेमी भक्त कहता है—

अब तो बंध मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बन्धन है, मुक्ति चरणसे झरती है॥

चेतन और जड़, जीव और जगत् विचारके विषय हैं; अतः 'ज्ञान' लौकिक है। परन्तु भगवान् विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धाविश्वासके विषय हैं*; अतः 'भक्ति' अलौकिक है। ज्ञानमार्गमें जबतक विवेक रहता है, तबतक लौकिकता रहती है। जब विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है, तब ज्ञानीमें भी अलौकिकता आ जाती है। कारण कि ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अज्ञानका नाशक है। अज्ञानका नाश करके ज्ञान भी शान्त हो जाता है और ज्ञानीमें अलौकिकता आ जाती है। इसलिये जैसे भक्तिमार्गमें मीराबाईका शरीर चिन्मय होकर लीन हो गया था, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें भी कबीर साहेबका शरीर चिन्मय होकर लीन हो गया था।

अवतारके समय लौकिक दृष्टिसे दीखनेपर भी भगवान् सदा अलौकिक ही रहते हैं। लोकमें अवतार लेनेपर भी उनकी अलौकिकता ज्यों-की-त्यों रहती है। भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं, इसलिये यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार कहा जाता है—'**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य**' (श्रीमद्भा० २।६।४१)। जैसे भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूपोंसे अवतार लिया है, ऐसे ही जगत्-रूपसे भी अवतार लिया है। इसको अवतार इसलिये कहते हैं कि इसमें भगवान् दृश्यरूपसे दीखनेमें आ जाते हैं।

अवतारके समय भगवान् अलौकिक होते हुए भी राग-द्वेषके

---

* भगवान् श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं, इसलिये आस्तिक और नास्तिक—दोनों तरहके दर्शन हैं। न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन लौकिक हैं। योगदर्शन और सांख्यदर्शन लौकिक तथा अलौकिक दोनों है। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा केवल अलौकिक हैं।

कारण अज्ञानियोंको लौकिक दीखते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। (गीता ७। २४)

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ (गीता ७। २५)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। (गीता ९। ११)

वास्तवमें लौकिक–अलौकिकका विभाग राग–द्वेषके कारण ही है। राग–द्वेष न हो तो सब कुछ अलौकिक (चिन्मय) ही है—‘**वासुदेवः सर्वम्**’। कारण कि लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। राग–द्वेषके कारण ही लौकिककी सत्ता और महत्ता दीखती है। राग–द्वेषके कारण ही जीवने भगवत्स्वरूप संसारको भी लौकिक बना दिया और खुद भी लौकिक बन गया! इसलिये भगवान्‌ने राग–द्वेषको साधकका महान् शत्रु बताया है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

‘इन्द्रिय इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें मनुष्यके राग और द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले) शत्रु हैं।’

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

‘रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खानेवाला और महापापी है। इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान।’

‘क्षर’ (नाशवान्)–की मुख्यता माननेसे जीव असुर बन जाता है, ‘अक्षर’ (अविनाशी)–की मुख्यता माननेसे जीव ज्ञानी बन जाता है और ‘पुरुषोत्तम’ (समग्र भगवान्)–की मुख्यता माननेसे जीव प्रेमी बन जाता है। प्रेमी बननेसे भक्त और भगवान्‌के बीच प्रेमका आदान–प्रदान

होता है। जैसे बच्चेकी चेष्टा माँको और माँकी चेष्टा बच्चेको प्रसन्न करनेवाली होती है, ऐसे ही भक्तकी चेष्टा भगवान्‌को और भगवान्‌की चेष्टा भक्तको प्रसन्न करनेवाली, आनन्द देनेवाली, प्रेमरसकी वृद्धि करनेवाली होती है। प्रेमी और प्रेमास्पदकी इस अभिन्नताको गोस्वामीजी महाराजने बड़े सुन्दर ढंगसे कहा है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।

(मानस, बाल० १८)

अर्थात् जो वाणी तथा उसके अर्थ और जल तथा उसकी लहरके समान कहनेमें ही अलग-अलग दीखते हैं, पर वास्तवमें एक ही हैं, यहाँ गोस्वामीजीने पहले स्त्रीवाचक 'गिरा' शब्द देकर फिर पुरुषवाचक 'अरथ' शब्द दिया है और उसके बाद पहले पुरुषवाचक 'जल' शब्द देकर फिर स्त्रीवाचक 'बीचि' शब्द दिया है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि स्त्रीवाचक 'सीता' और पुरुषवाचक 'राम'—दोनों अभिन्न हैं। अतः चाहे 'सीता' पहले कहो (सीताराम कहो), चाहे 'राम' पहले कहो (रामसीता कहो)—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है*। प्रेममें कोई भेद नहीं रहता। प्रेममें भक्त और भगवान्—दोनों समान हैं—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्। (नारदभक्ति० ४१)

'भगवान्‌में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।'

---

* भरतजी प्रेम-विभोर होकर 'रामसिय-रामसिय' नामका उच्चारण करते हैं—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

(मानस, अयोध्या० २०३)

८. अलौकिक साधन—भक्ति

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माको प्राप्त करनेके तीन मुख्य साधन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। भागवतमें भगवान् कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योगमार्ग (भगवद्गीतामें) कहे हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग*। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी मुख्यता है और भक्तियोगमें भगवान्से सम्बन्ध जोड़नेकी मुख्यता है। इसलिये कर्मयोग तथा ज्ञानयोग 'लौकिक साधन' हैं और भक्तियोग 'अलौकिक साधन' है। लौकिक साधन 'विवेकमार्ग' है और अलौकिक साधन 'विश्वासमार्ग' है। विवेकमार्गमें विवेककी मुख्यता और श्रद्धा-विश्वासकी गौणता है तथा विश्वासमार्गमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता और विवेककी गौणता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें विवेक काम आता है और भगवान्से सम्बन्ध जोड़नेमें विश्वास काम आता है। साधकसे प्रायः यह भूल होती है कि वह विवेकमें विश्वास और विश्वासमें विवेक मिलाता है अर्थात् विवेकमार्गमें विश्वासकी मुख्यता और विश्वासमार्गमें विवेककी मुख्यता करता है। इस कारण उसका साधन जल्दी सिद्ध नहीं होता। संसारसे मेरा सम्बन्ध है कि नहीं है—इसमें विश्वास नहीं करना है, प्रत्युत विवेक करना है। भगवान् हैं कि नहीं हैं और मेरे हैं कि नहीं हैं—इसमें विवेक नहीं करना है, प्रत्युत विश्वास करना है। कारण कि जगत् तथा जीव विचारके विषय हैं और भगवान् केवल विश्वास (मान्यता)-के

---

* गीतामें भगवान्ने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—इसी क्रमसे उपदेश दिया है।

विषय हैं। विवेक (विचार) वहीं लगता है, जहाँ सन्देह होता है और सन्देह अल्प ज्ञानमें अथवा अधूरे ज्ञानमें होता है। तात्पर्य है कि जिसके विषयमें हमारा आंशिक ज्ञान है अर्थात् कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते, वहीं विवेक चलता है। परन्तु जिसके विषयमें कुछ नहीं जानते, वहाँ विश्वास ही चलता है। विश्वासमें सन्देह नहीं होता। विश्वास करने अथवा न करनेमें सब स्वतन्त्र हैं*।

ज्ञानी संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करता है और भक्त एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीसे अपना सम्बन्ध मानता ही नहीं। दूसरे शब्दोंमें ज्ञानी 'मैं' व 'मेरा' का त्याग करता है और भक्त 'तू' व 'तेरा' को स्वीकार करता है। इसलिये ज्ञानी पदार्थ व क्रियाका त्याग करता है और भक्त पदार्थ व क्रियाको भगवान्‌के अर्पण करता है (गीता ९। २६-२७) अर्थात् उनको अपना न मानकर भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है। त्यागकी अपेक्षा अर्पण सुगम होता है। कारण कि जिस वस्तुमें मनुष्यकी सत्यत्व और महत्त्वबुद्धि होती है, उसको मिथ्या समझकर यों ही त्याग देनेकी अपेक्षा किसी व्यक्तिके अर्पण कर देना, उसकी सेवामें लगा देना सुगम पड़ता है। फिर जो परम श्रद्धास्पद, प्रेमास्पद भगवान् हैं, उनको अर्पण करनेकी सुगमताका तो कहना ही क्या! क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुएँ (मात्र संसार) पहलेसे ही भगवान्‌की हैं। उनको भगवान्‌के अर्पण करना केवल अपनी भूल मिटाना है। संसारको भगवान्‌का मानते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये भक्तको विवेककी जरूरत नहीं है। तात्पर्य है कि भक्त संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करता, प्रत्युत उसको भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है।

---

* वेद, पुराण आदि ग्रन्थोंसे, भगवान्‌के भक्तोंसे अथवा कोई दुःख आनेसे भगवान्‌पर विश्वास हो जाता है। जब कोई आफत आती है और उससे बचनेका कोई उपाय नहीं दीखता, कोई सहारा नहीं दीखता तथा उससे बचनेके लिये किये गये सब प्रयत्न फेल हो जाते हैं, तब मनुष्यको भगवान्‌पर विश्वास करना ही पड़ता है! भगवान्‌को पुकारना ही पड़ता है!

विवेक पारमार्थिक विषयमें भी काम करता है और लौकिक विषयमें भी। लौकिक विषयमें विवेकका उपयोग करके मनुष्य बड़ा वैज्ञानिक, जज, वकील आदि बन सकता है, तरह-तरहके आविष्कार कर सकता है, पर तत्त्वप्राप्ति नहीं कर सकता। कारण कि राग साथमें रहनेसे लौकिक विषयोंका विवेक भोग और संग्रहका महत्त्व बढ़ाकर संसारमें फँसाता है, पापोंमें लगाकर पतन करता है। तात्पर्य है कि संसारकी सत्ता और महत्ता साथमें रहनेसे विवेक बहुत घातक, अनर्थका हेतु होता है। वास्तवमें लौकिक विषयोंका विवेक 'अविवेक' ही है। पारमार्थिक विषयका विवेक अर्थात् सत्-असत्का विवेक ही वास्तविक विवेक है*। सत्-असत्का विवेक होनेसे पारमार्थिक अथवा लौकिक दोनों कार्य ठीक होते हैं; क्योंकि विवेकी मनुष्यकी बुद्धि हरेक विषयमें प्रविष्ट होती है।

पारमार्थिक विवेकवाला मनुष्य लौकिक विषयोंका भी ठीक ढंगसे उपयोग कर सकता है। परन्तु केवल लौकिक विवेकवाला मनुष्य लौकिक विषयोंका भी ठीक ढंगसे उपयोग नहीं कर पाता—

उपभोक्तुं न शक्नोति श्रियं प्राप्यापि मानवः।
आकण्ठजलग्नोऽपि श्वा लेढीति स्वजिह्वया॥

'प्रारब्धवश धन-सम्पत्ति प्राप्त करके भी अविवेकी मनुष्य उसका ठीक ढंगसे उपभोग नहीं कर सकता; जैसे—गलेतक जलमें डूबे होनेपर भी कुत्ता जीभसे ही जलको चाटता है (उसको सीधे जल पीना आता ही नहीं)।'

वास्तविक विवेक वैराग्यका जनक है। यदि वैराग्य न हो तो विवेक वास्तविक (असली) नहीं है। 'मेरा असत्के साथ सम्बन्ध है ही नहीं'—इस विवेकसे वैराग्य होता ही है। विवेकमें सत् और असत्—

---

* प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (गीता १८। ३०)

'हे पृथानन्दन! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

दो चीज होती है, इसलिये वैराग्य होनेपर भी अन्तःकरणमें असत्‌की अति सूक्ष्म सत्ता रहनेसे उसकी सूक्ष्म वासना रह जाती है। वह वासना प्रेम-भक्तिसे ही दूर होती है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

उस सूक्ष्म वासनाको सर्वथा नष्ट करनेकी ताकत प्रेममें ही है। प्रेममें बिना विचार किये स्वतः असत्‌का आकर्षण मिटता है; क्योंकि सत्-तत्त्वमें प्रेम होनेपर असत्‌की तरफ दृष्टि जाती ही नहीं, असत्‌से सर्वथा विमुखता हो जाती है—'**सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं**' (मानस, अरण्य० ५। ६)। तात्पर्य है कि प्रेममें दो चीज नहीं होती, प्रत्युत एक भगवान् ही होते हैं। अतः विवेक तो तटस्थ रहता है, पर प्रेम भगवान्‌में लगाता है। संसारमें जैसे रुपयोंमें आकर्षित करनेकी शक्ति लोभमें ही है, ऐसे ही भगवान्‌में आकर्षित करनेकी शक्ति प्रेममें ही है। यह शक्ति विवेकमें नहीं है। हाँ, यदि तीव्र जिज्ञासा हो तो विवेकमें भी सत्-तत्त्वकी मुख्यता हो जाती है। सत्-तत्त्वकी मुख्यता होनेपर वह विवेक केवल वैराग्यका जनक ही नहीं रहता, प्रत्युत तत्त्वबोधका प्रापक हो जाता है।

विवेकमार्गमें सत् और असत्—दोनोंकी मान्यता साथ-साथ रहनेसे असत्‌की अति सूक्ष्म सत्ता अर्थात् अति सूक्ष्म अहम् दूरतक साथ रहता है। यह सूक्ष्म अहम् मुक्त होनेपर भी रहता है। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर यह परमात्मासे अभिन्न होनेमें बाधक होता है। इसलिये विवेकमार्गमें ज्ञानियोंकी अथवा दार्शनिकोंकी मुक्ति तो हो सकती है, पर परमात्माके साथ अभिन्नता अर्थात् प्रेम नहीं हो सकता। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद रहता है। विश्वासमार्गमें आरम्भसे ही भक्त एक परमात्माके सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसलिये वह परमात्माके साथ अभिन्न हो जाता है। परमात्माके साथ अभिन्न होनेपर सूक्ष्म अहम्

नहीं रहता और उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण मतभेद समाप्त हो जाते हैं। इसलिये ज्ञानकी एकतासे प्रेमकी एकता श्रेष्ठ है। कारण कि ज्ञानमें तो भेद रह सकता है, पर प्रेममें कोई भेद रहता ही नहीं।

विवेकमार्गमें विवेकपूर्वक किया जानेवाला साधन दो प्रकारका होता है—विध्यात्मक और निषेधात्मक। विध्यात्मक साधनमें सूक्ष्म अहम् बना रहता है। कारण कि इसमें अभ्यासकी मुख्यता रहनेसे असत्‌का आश्रय रहता है। इसमें साधकका यह विचार रहता है कि मुझे सत्‌में स्थिति करनी है। यह विचार रहनेसे असत्‌का संग छूटनेपर भी सत्‌में 'स्थितिवाला' रह जाता है—यही सूक्ष्म अहम् है। यह सूक्ष्म अहंभाव दार्शनिकोंमें एकता नहीं होने देता। दार्शनिकोंमें मतभेद रहनेसे उनके दर्शनोंमें भी मतभेद रहता है अर्थात् वे अपने-अपने मतके अनुसार परमात्माको मानते हैं, जो कि समग्रका अंश (आंशिक) होता है, समग्र नहीं। वे परमात्माके उस समग्र रूपको नहीं जानते, जिसमें कोई मतभेद नहीं है।

दार्शनिकोंकी दृष्टिमें उनका अपना मत साध्य है, जो वास्तवमें साध्य न होकर साधन-तत्त्व है*। वास्तविक साध्य (समग्र परमात्मा)-में कोई दार्शनिक मतभेद नहीं है। सूक्ष्म अहम् रहनेसे दार्शनिकोंको अपना मत (मार्ग) श्रेष्ठ दीखता है, दूसरेका मत उतना श्रेष्ठ, लाभदायक नहीं दीखता, और उनकी ऐसी मान्यता रहती है कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती या निष्कामकर्मके बिना मुक्ति नहीं हो सकती अथवा भक्तिके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये वे अपने मतका मण्डन और दूसरेके मतका खण्डन करते हैं। दूसरेके मतका खण्डन वे बुरी नीयतसे नहीं करते, प्रत्युत इस शुद्ध नीयतसे करते हैं कि लोग विपरीतगामी न होकर अपना कल्याण कर लें। लोगोंके कल्याणके उद्देश्यसे वे अपने मत (मार्ग)-का प्रचार करते हैं; क्योंकि उस मतका उन्होंने खुद अनुभव किया है और उसमें वे निःसन्देह हुए हैं, उनको शान्ति मिली है। अतः उनका वैसा कहना उचित ही है।

* साधन तो अलग-अलग होते हैं, पर साधन-तत्त्व एक होता है।

परन्तु उन दार्शनिकोंके अनुयायियोंमें प्राय: देहाभिमानके कारण अपने मतका आग्रह रहता है। आग्रह रहनेसे वे अपने मतका अनुसरण न करके दूसरे मतका खण्डन करते हैं और दूसरे मतको माननेवालोंसे द्वेष करते हैं। दूसरे मतको माननेसे भी कल्याण हो सकता है—यह बात उनको जँचती ही नहीं! उलटे वे दूसरे मतको भ्रम मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि दूसरोंको हमारे मतमें आना ही पड़ेगा, तभी उनका कल्याण होगा! उनका दूसरे मतको माननेवालोंसे जो द्वेष होता है, वह सामान्य सांसारिक राग-द्वेषसे भी मजबूत और भयंकर होता है। उस द्वेषके कारण वे दूसरे मतको सर्वथा मिटा देना चाहते हैं! इस प्रकार लड़ाई दार्शनिकोंमें नहीं होती, प्रत्युत उनके अनुयायियोंमें होती है।

अपने साधनके प्रति कृतज्ञता, महत्ताका भाव रहना दोष नहीं है, पर दूसरेके मतका खण्डन करना दोष है। इसलिये साधकको दूसरेके मतका खण्डन तथा अपने मतका आग्रह न करके अपने मतके अनुसार साधन करना चाहिये। वह दूसरेके मतका खण्डन न करके अधिक-से-अधिक यह कह सकता है कि उस प्रणालीको मैं जानता नहीं! अपनी अज्ञता कहनेमें दोष नहीं है, प्रत्युत अपना गुण कहनेमें दोष है। कारण कि अपनी अज्ञता (अपूर्णता) कहनेसे दूसरेमें पूर्णता दीखती है और अपना गुण कहनेसे दूसरेमें दोष दीखता है। इसलिये साधकको कभी भी अपनेको सिद्ध नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत सदा साधक ही मानना चाहिये। अपनेमें सिद्धि, पूर्णता माननेसे उसका आगे बढ़ना रुक जायगा और अपने साथ धोखा भी हो जायगा अर्थात् अपनेमें कोई कमी भी होगी तो वह बनी रहेगी।

प्रश्न—क्या मुक्त होनेपर भी सूक्ष्म अहम् रहता है?

उत्तर—मुक्त होनेपर भी ज्ञानी (दार्शनिक)-में सूक्ष्म अहम् रहता है, जिससे दार्शनिकोंमें परस्पर अलगाव, भिन्नता, भेद रहता है। यह सूक्ष्म अहम् वास्तवमें अहंकारका संस्कार है, जो जन्म-मरणका कारण नहीं होता। गुणोंका संग ही जन्म-मरणका कारण होता है—'**कारणं**

गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गीता १३। २१)। मार्गका संग जन्म-मरणका कारण नहीं होता। मार्गका संग है—जिस मार्गसे सिद्धि (मुक्ति) मिली, उस मार्गका संस्कार, जो 'सूक्ष्म अहम्' कहलाता है। सूक्ष्म अहम्में स्वयं संसारके सम्मुख न होकर परमात्मतत्त्वके सम्मुख रहता है। यह सूक्ष्म अहम् ज्ञानकी एकतामें रहता है, प्रेमकी एकतामें नहीं। कारण कि भक्तकी खुदकी निष्ठा नहीं होती, प्रत्युत वह भगवन्निष्ठ होता है; परन्तु ज्ञानीकी खुदकी निष्ठा होती है। अतः भक्तिमें अहंता बदलकर भगवान्में लीन हो जाती है, जिससे अहम्का संस्कार नहीं रहता। परन्तु ज्ञानमें अहंताको मिटानेसे अत्यन्त सूक्ष्म अहम् रह जाता है। हाँ, अधिक भूमिका चढ़ जानेसे ज्ञानीका भी वह अत्यन्त सूक्ष्म अहम् मिट जाता है।

भेद ज्ञानमें रहता है, प्रेममें नहीं। प्रेममें समग्र परमात्माकी प्राप्ति होती है; क्योंकि समग्रता (**'वासुदेवः सर्वम्'**)-की प्राप्तिमें प्रेम कारण है, ज्ञान कारण नहीं है। एक विचित्र बात है कि ज्ञानमार्गमें मुक्ति भी प्रेमसे ही होती है! कारण कि अपने स्वरूप (सत्ता)-में प्रेम, आकर्षण हुए बिना स्वरूपमें स्थिति नहीं होती। ज्ञानीका अपने स्वरूपमें जो प्रेम होता है, वह प्रेम उसको मुक्त तो कर देगा, पर समग्रताकी प्राप्ति करा दे—यह नियम नहीं है। कारण कि सत्ताका यह प्रेम सांसारिक आसक्तिकी तरह जन्म-मरण देनेवाला तो बिलकुल नहीं होता, पर सब मतोंका समान आदर करनेमें बाधक होता है, जबकि वास्तवमें साधन करनेवाले, असत्से विमुख होकर सत्के सम्मुख होनेवाले सब आदरणीय होते हैं। स्थूल दृष्टिसे भी देखें तो ज्ञानी दूसरोंके साथ एक नहीं होता, जबकि भक्त सबके साथ एक हो जाता है। कारण कि ज्ञानीमें आरम्भमें अभिमान रहता है और भक्तमें आरम्भसे ही नम्रता, दीनता रहती है। हाँ, अगर भक्तमें अभिमान होगा तो वह भी दूसरोंके साथ एक नहीं हो सकेगा। अभिमानका नाश तभी होगा, जब ज्ञानी नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल ज्ञान रहेगा; प्रेमी नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल प्रेम रहेगा।

ज्ञानमें अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति होती है और भक्तिमें अनन्त आनन्दकी प्राप्ति होती है। अखण्ड आनन्दमें ज्ञानी एकाकी (अकेला) रहता है, इसलिये अखण्ड आनन्दसे उसकी तृप्ति नहीं होती—'**एकाकी न रमते**'। अखण्ड आनन्दसे अरुचि होनेपर उसमें अनन्त आनन्द अर्थात् प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी पिपासा (प्रेम-प्राप्तिकी लालसा) जाग्रत् होती है।

जीवन्मुक्तिका आनन्द भी भोग है। उसके छूटनेपर ही प्रेमकी प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्तिका आनन्द छूटनेका आनन्द है और प्रेमका आनन्द मिलनेका आनन्द है। प्रेमीको मुक्ति भी खारी लगती है। भगवान् भी प्रेमके भूखे हैं, ज्ञानके भूखे नहीं। ज्ञानके तो वे स्वरूप ही हैं—'**सच्चित्सुखैकवपुषः**', '***चिदानंदमय देह तुम्हारी***' (मानस, अयोध्या० २। १२७। ३)।

वास्तविक अद्वैत प्रेममें ही है। प्रेममें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं है। प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते हुए भी दो हैं और दो होते हुए भी एक हैं। प्रेमीमें अन्यके भावकी स्फुरणा ही नहीं है। अन्यकी तरफ प्रेमीकी दृष्टि कभी गयी ही नहीं, है ही नहीं, जायगी ही नहीं, जा सकती ही नहीं; क्योंकि प्रेममें अन्यका अत्यन्त अभाव है। प्रेमीको सब जगह अपना प्रेमास्पद ही दीखता है—'***जित देखौं तित स्याममयी है***'। इसलिये प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय कहा गया है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

(नारदभक्तिसूत्र ५१-५२)

जबतक अन्यकी सत्ता है, तबतक वह साधन-प्रेम है, साध्य-प्रेम (परमप्रेम या पराभक्ति) नहीं। इसलिये ज्ञानमें 'अनिर्वचनीय ख्याति' है और प्रेममें 'अनिर्वचनीय स्वरूप' है। तात्पर्य है कि ज्ञानमें अन्यका निषेध है और प्रेममें अन्यका अत्यन्त अभाव है। कारण कि प्रेममें समग्र परमात्माकी प्राप्ति है। इसलिये प्रेमीका किसीसे भी वैर-विरोध नहीं होता। प्रेमीकी दृष्टिमें सभी समग्रका अंग होनेसे अपने प्रभु ही हैं, फिर कौन वैर करेगा, किससे करेगा और क्यों करेगा—'***निज प्रभुमय***

देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'?

उदाहरणके लिये, कोई रामका, कोई कृष्णका, कोई शिवका प्रेमी है तो वे सब परस्पर एक हो सकते हैं, पर सब ज्ञानी परस्पर एक नहीं हो सकते। अगर प्रेमी और ज्ञानी परस्पर मिलें तो प्रेमी ज्ञानीका जितना आदर करेगा, उतना ज्ञानी प्रेमीका नहीं कर सकेगा। इसलिये भक्तोंका लक्षण बताया है—***'सबहि मानप्रद आपु अमानी'*** (मानस, उत्तर० ३८। २)। रामायणके आरम्भमें गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज सज्जनोंके साथ-साथ दुष्टोंकी भी वन्दना करते हैं और सच्चे भावसे करते हैं—***'बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ'*** (मानस, बाल० ४। १)। ऐसा भक्त ही कर सकता है, ज्ञानी नहीं! यद्यपि ज्ञानीका किसीसे कभी किंचिन्मात्र भी वैर नहीं होता, तथापि उसमें उदासीनता, तटस्थता रहती है। विवेकमार्ग (ज्ञान)-में वैराग्यकी मुख्यता रहती है, और वैराग्य रूखा होता है। इसलिये ज्ञानीमें भीतरसे कठोरता न होनेपर भी वैराग्य, उदासीनताके कारण बाहरसे कठोरता प्रतीत होती है।

गीतामें कर्मयोगीके लक्षण भी आये हैं (२। ५५—७२, ६। ७—९), ज्ञानीके लक्षण भी आये हैं (१४। २२—२५) और भक्तके लक्षण भी आये हैं (१२।१३—१९); परन्तु केवल भक्तके लक्षणोंमें ही भगवान्‌ने कहा है—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।'

(१२। १३)

'भक्त सब प्राणियोंमें द्वेष-भावसे रहित, सबका मित्र (प्रेमी) और दयालु होता है।'

—यह लक्षण **(मैत्रः करुणः)** न कर्मयोगीके लक्षणोंमें आया है, न ज्ञानीके लक्षणोंमें, प्रत्युत केवल भक्तके लक्षणोंमें आया है।

भक्तमें ज्ञान और वैराग्य स्वतः आते हैं, लाने नहीं पड़ते*। कारण कि

*.भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

ज्ञान और वैराग्य भक्तिके बेटे हैं और जहाँ माँ जायगी, वहाँ बेटे जायँगे ही! इसमें एक मार्मिक बात है कि भक्तमें जो ज्ञान और वैराग्य आते हैं, वे ज्ञानीमें आनेवाले ज्ञान और वैराग्यसे भी विलक्षण होते हैं। जैसे, ज्ञान-मार्गमें तो निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान होता है, पर भक्तिमार्गमें समग्रका ज्ञान होता है; क्योंकि भगवान् स्वयं भक्तको ज्ञान देते हैं* इसी तरह ज्ञानमार्गमें वैराग्य होता है तो वस्तुके रहते हुए उसमें राग मिट जाता है, पर भक्तिमार्गमें वैराग्य होता है तो वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता ही मिट जाती है और वह भगवत्स्वरूप हो जाती है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९), '**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। कारण कि अधिभूत अर्थात् सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत् भी समग्र परमात्माका ही एक अंग है—'**साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः**' (गीता ७। ३०)।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४२-४३)

'जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक साथ होते जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और प्रभुके सिवाय अन्य सब वस्तुओंसे वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है। राजन्! इस प्रकार जो प्रतिक्षण एक-एक वृत्तिके द्वारा भगवान्‌के चरण-कमलोंका ही भजन करता है, उसे भक्ति, वैराग्य और भगवत्प्रबोध—ये तीनों अवश्य ही प्राप्त हो जाते हैं और वह भागवत हो जाता है तथा परमशान्तिका साक्षात् अनुभव करने लगता है।'

*. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। १०-११)

'उन नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है। उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूपमें रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ।'

९. प्रार्थना

(१)

हे नाथ! अब तो आपको हमारेपर कृपा करनी ही पड़ेगी। हम भले-बुरे कैसे ही हों, आपके ही बालक हैं। आपको छोड़कर हम कहाँ जायँ? किससे बोलें? हमारी कौन सुने? संसार तो सफा जंगल है। उससे कहना अरण्यरोदन (जंगलमें रोना) है। आपके सिवाय कोई सुननेवाला नहीं है। महाराज! हम किससे कहें? हमारेपर किसको दया आती है? अच्छे-अच्छे लक्षण हों तो दूसरा भी कोई सुन ले। हमारे-जैसे दोषी, अवगुणीकी बात कौन सुने? कौन अपने पास रखे? हे गोविन्द-गोपाल! यह तो आप ही हैं, जो गायों और बैलोंको भी अपने पास रखते हैं, चारा देते हैं। हम तो बस, बैलकी तरह ही हैं! बिलकुल जंगली आदमी हैं! आप ही हमें निभाओगे। और कौन है, किसकी हिम्मत है कि हमें अपना ले? ऐसी शक्ति भी किसमें है? हम किसीको क्या निहाल करेंगे? हमें अपनाकर भी कोई क्या करेगा? हमें रोटी दे, कपड़ा दे, मकान दे, खर्चा करे, और हमारेसे क्या मतलब सिद्ध होगा? ऐसे निकम्मे आदमीको कौन सँभाले? कोई गुण-लक्षण हों तो सँभाले। यह तो आप दया करते हैं, तभी काम चलता है, नहीं तो कौन परवाह करता है?

हे प्रभो! थोड़ी-सी योग्यता आते ही हमें अभिमान हो जाता है! योग्यता तो थोड़ी होती है, पर मान लेते हैं कि हम तो बहुत बड़े हो गये, बड़े योग्य बन गये, बड़े भक्त बन गये, बड़े वक्ता बन गये, बड़े चतुर बन गये, बड़े होशियार बन गये, बड़े विद्वान् बन गये, बड़े त्यागी, विरक्त बन गये! भीतरमें यह अभिमान भरा है नाथ! आपकी ऐसी बात सुनी है कि आप अभिमानसे द्वेष करते हो और दैन्यसे प्रेम करते हो*। अगर आपको अभिमान सुहाता नहीं है तो फिर उसको मिटा दो, दूर

---

* ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च। (नारदभक्तिसूत्र २७)

कर दो। बालक कीचड़से सना हुआ हो और गोदीमें जाना चाहता हो तो माँ ही उसको धोयेगी, और कौन धोयेगा? क्या बालक खुद स्नान करके आयेगा, तब माँ उसको गोदीमें लेगी? आपको हमारी अशुद्धि नहीं सुहाती तो फिर कौन साफ करेगा? आपको ही साफ करना पड़ेगा महाराज!

हे नाथ! हमारे सब कुछ आप ही हो। आपके सिवाय और कौन है, जो हमारे-जैसेको गले लगाये? इसलिये हे प्रभो! अपना जानकर हमारेपर कृपा करो। एक मारवाड़ी कहावत है—*'गैलो गूँगो बावळो, तो भी चाकर रावळो।'* हम कैसे ही हैं, आपके ही हैं। आप अपनी दयासे ही हमें सँभालो, हमारे लक्षणोंसे नहीं। जिन भरतजीकी रामजीसे भी ज्यादा महिमा कही गयी है, वे भी कहते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(मानस, उत्तर० १। ३)

आपके ऐसे मृदुल स्वभावको सुनकर ही आपके सामने आनेकी हिम्मत होती है। अगर अपनी तरफ देखें तो आपके सामने आनेकी हिम्मत ही नहीं होती। आपने वृत्रासुर, प्रह्लाद, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ आदिका भी उद्धार कर दिया, यह देखकर हमारी हिम्मत होती है कि आप हमारा भी उद्धार करेंगे*। जैसे अत्यन्त लोभी आदमी कूड़े-कचरेमें पड़े पैसेको भी उठा लेता है, ऐसे ही आप भी कूड़े-कचरेमें पड़े हम-जैसोंको उठा लेते हो। थोड़ी बातसे ही आप रीझ जाते हो—*'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें'* (मानस, बाल० ३४२। २)। कारण कि आपका स्वभाव है—

* सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु।
उपल किए जलजान जेहिं सचिव सुमति कपि भालु॥
प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥ (मानस, बाल० २८-२९)

रहति न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९। ३)

अगर आपका ऐसा स्वभाव न हो तो हम आपके नजदीक भी न आ सकें; नजदीक आनेकी हिम्मत भी न हो सके! आप हमारे अवगुणोंकी तरफ देखते ही नहीं। थोड़ा भी गुण हो तो आप उस तरफ देखते हो। वह थोड़ा भी आपकी दृष्टिसे है। हे नाथ! हम विचार करें तो हमारेमें राग–द्वेष, काम–क्रोध, लोभ–मोह, अभिमान आदि कितने ही दोष भरे पड़े हैं! हमारेसे आप ज्यादा जानते हो, पर जानते हुए भी आप उनको मानते नहीं—*'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ'*, इसीसे हमारा काम चलता है प्रभो! कहीं आप देखने लग जाओ कि यह कैसा है, तो महाराज! पोल–ही–पोल निकलेगी!

हे नाथ! बिना आपके कौन सुननेवाला है? कोई जाननेवाला भी नहीं है! हनुमान्‌जी विभीषणसे कहते हैं कि मैं तो चंचल वानरकुलमें पैदा हुआ हूँ। प्रातःकाल जो हमलोगोंका नाम भी ले ले तो उस दिन उसको भोजन न मिले! ऐसा अधम होनेपर भी भगवान्‌ने मेरेपर कृपा की*, फिर तुम तो पवित्र ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए हो! कानोंसे ऐसी महिमा सुनकर ही विभीषण आपकी शरणमें आये और बोले—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(मानस, सुन्दर० ४५)

जो आपकी शरणमें आ जाता है, उसकी आप रक्षा करते हो, उसको सुख देते हो, यह आपका स्वभाव है—

---

*कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना।
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

(मानस, सुन्दर ७। ४, दो० ७)

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर, राम सरिस कोउ नाहीं॥

(विनयपत्रिका १६२)

यहि दरबार दीनको आदर, रीति सदा चलि आई।

(विनयपत्रिका १६५। ५)

हरेक दरबारमें दीनका आदर नहीं होता। जबतक हमारे पास कुछ धन-सम्पत्ति है, कुछ गुण है, कुछ योग्यता है, तभीतक दुनिया हमारा आदर करती है। दुनिया तो हमारे गुणोंका आदर करती है, हमारा खुदका (स्वरूपका) नहीं। परन्तु आप हमारा खुदका आदर करते हो, हमें अपना अंश मानते हो—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७), ***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २)। हमें अपना अंश मानते ही नहीं, स्पष्टतया जानते हो और अपना जानकर कृपा करते हो। हमारे अवगुणोंकी तरफ आप देखते ही नहीं। बच्चा कैसा ही हो, कुछ भी करे, पर 'अपना है'—यह जानकर माँ कृपा करती है, नहीं तो मुफ्तमें कौन आफत मोल ले महाराज?

हे नाथ! जो कुछ भी हमें मिलता है, आपकी कृपासे ही मिलता है। परन्तु उसको हम अपना मान लेते हैं कि यह तो हमारा ही है। यह आपकी खास उदारता और हमारी खास भूल है! महाराज! आपकी देनेकी रीति बड़ी विलक्षण है! सब कुछ देकर भी आपको याद नहीं रहता कि मैंने कितना दिया है? आपके अन्तःकरणमें हमारे अवगुणोंकी छाप ही नहीं पड़ती। आपका अन्तःकरणरूपी कैमरा कैसा है, इसको आप ही जानते हो! उसमें अवगुण तो छपते ही नहीं, गुण-ही-गुण छपते हैं। ऐसा आपका स्वभाव है! सिवाय आपमें अपनेपनके और हमारे पास क्या है महाराज! आप हमें अपना जानते हैं, मानते हैं, स्वीकार करते हैं, तभी काम चलता है नाथ! नहीं तो बड़ी मुश्किल हो जाती! हम जी भी नहीं सकते थे! केवल आपकी कृपाका ही आसरा है, तभी जीते हैं—

आप कृपा को आसरो, आप कृपा को जोर।
आप बिना दीखे नहीं, तीन लोक में और॥

कृपा करके भी आपकी कृपा कभी तृप्त नहीं होती—*'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती'* (मानस, बाल० २८। २)! ऐसी कृपाके कारण ही आप कृपा कर रहे हो! आप हमारे भीतरकी सब बातें पूर्णतया जानते हो, पर जानते हुए भी उधर दृष्टि नहीं डालते और ऐसा बर्ताव करते हो कि मानो आपको पता ही नहीं, आप जानते ही नहीं! आपकी कृपा ही आपको मोहित कर देती है। आप अपने ही गुणोंसे मोहित हो जाते हो। आप अपना किया हुआ उपकार ही भूल जाते हो। अपनी दी हुई वस्तुको भी भूल जाते हो। देते तो आप हो, पर हम मान लेते हैं कि यह तो हमारी ही है! ऐसे कृतघ्न, गुणचोर हैं हम तो महाराज! पूत कपूत हो चाहे सपूत हो, पूत तो है ही। पूत कभी अपूत नहीं हो सकता। आपने गीतामें कहा है कि जीव सदासे मेरा ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**'। अतः अपना पूत जानकर कृपा करो।

हे प्रभो! हम आपके क्या काम आ सकते हैं? क्या आपका कोई काम अड़ा हुआ है, जो हमारेसे निकलता हो? क्या हमारी योग्यता आपके कोई काम आ सकती है? यह तो केवल हमारा अभिमान बढ़ानेमें काम आती है। आपकी दी हुई चीजको हम अपनी मान लेते हैं और अपनी मान करके अभिमान कर लेते हैं—ऐसे कृतघ्न हैं हम! फिर भी आप आँखें मीच लेते हो। आप उधर खयाल ही नहीं करते। आपके ऐसे स्वभावसे ही तो हम जी रहे हैं!

हे नाथ! हम आपसे क्या कहें? हमारे पास कहनेलायक कोई शब्द नहीं है, कोई योग्यता नहीं है। आप जंगलमें रहनेवाले किरातोंके वचन भी ऐसे सुनते हो, जैसे पिता अपने बालककी तोतली वाणी सुनता है—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥

(मानस, अयोध्या० १३६)

इसी तरह हे नाथ! हमें कुछ कहना आता नहीं। हम तो बस, इतना ही जानते हैं कि जिसका कोई नहीं होता, उसके आप होते हो—

बोल न जाणूं कोय अल्प बुद्धि मन वेग तें।
नहिं जाके हरि होय या तो मैं जाणूं सदा॥

(करुणासागर ७४)

(२)

हे नाथ! हमें आपके चरित्र अच्छे लगें, आपकी लीला अच्छी लगे, आपका रूप अच्छा लगे, आपका धाम अच्छा लगे, आपके गुण अच्छे लगें, आपकी महिमा अच्छी लगे, तो यह आपकी कृपा ही है, हमारा कोई बल नहीं है। आज जो हम आपका नाम ले रहे हैं, आपकी चर्चा सुन रहे हैं, आपमें लगे हुए हैं, यह केवल आपकी ही कृपा है। यह न तो हमारा उद्योग है और न हमारे कर्मोंका फल ही है। किसीकी ऐसी योग्यता, सामर्थ्य नहीं है कि आपकी कृपाके बिना आपकी तरफ आ सके। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर–जैसे कितने–कितने अवगुण भरे हुए हैं और कैसा वायुमण्डल है! कैसा कलियुगका समय है! ऐसे समयमें आपकी तरफ वृत्ति होती है तो यह केवल आपकी कृपा है। आपकी कृपाके बिना जीव अपने बलसे आपकी तरफ आ सकता ही नहीं! सन्तोंका संग भी आप ही देते हो। प्रेरणा भी आपकी होती है। आप ही ऐसा वायुमण्डल बना देते हो, जिससे आपकी तरफ आनेके लिये हम बाध्य, विवश हो जाते है! मानमें, बड़ाईमें, आदरमें, प्रशंसामें, रुपयोंमें, भोगोंमें, संग्रहमें, सुखमें, आराममें हमारा मन स्वतः जाता है—यह तो है हमारी दशा! और इसपर भी जो सत्संग मिलता है, आपकी चर्चा मिलती है, आपकी कथा मिलती है तो यह आपकी ही कृपा है महाराज! संसारका चिन्तन तो अपने–आप होता है; क्योंकि ऐसा स्वभाव पड़ा हुआ है, पर आपकी चर्चा, आपका चिन्तन आपकी कृपासे ही होता है। आपने ही सद्बुद्धि दी है। हमारी दशा तो बेदशा है, पर आप हमारी दशाकी तरफ देखते ही नहीं हो, हमारे अवगुणोंकी

तरफ देखते ही नहीं हो। आपका ऐसा स्वभाव ही है*। आपकी अपनी कृपासे ही आप मोहित हो जाते हो! अपनी ही कृपाके वशीभूत होकर आप हम-जैसोंको भी अपनी तरफ खींचते हो! उस कृपासे ही हम आपकी ओर आते हैं, अपनी शक्तिसे, भक्तिसे नहीं!

हे नाथ! भक्ति भी आप देते हो, तब होती है। अपनी जबर्दस्तीसे भक्ति लेनेकी ताकत किसीमें नहीं है। इतना ही नहीं, संसारके पदार्थ लेनेकी और भोगनेकी इच्छा होनेपर भी हम ले नहीं सकते, भोग नहीं सकते। जब नाशवान् संसारमें भी हमारा वश नहीं चलता, तो फिर आपकी अविनाशी भक्ति, अविनाशी गुण हमारे बलसे कैसे मिल सकते हैं? हम जिस धन, मान, बड़ाई, आराम आदिके लिये उद्योग करते हैं और झूठ, कपट, बेईमानी आदिको दोष जानते हुए भी स्वीकार करते हैं, उस धन आदिको भी प्राप्त नहीं कर सकते! फिर हम आपकी तरफ चलें—यह क्या हमारी शक्ति है? हम विनाशीको भी नहीं पकड़ सकते, फिर अविनाशीको कैसे पकड़ सकते हैं? उसको पकड़ सकते ही नहीं। हमारी क्या ताकत है प्रभो! यह तो आपने ही कृपा की है, जिससे हम आपकी चर्चा सुनते हैं, आपके चरित्र सुनते हैं, आपके गुणोंका वर्णन सुनते हैं, आपका नाम सुनते हैं, आपके विग्रहका दर्शन करते हैं। आप ही कृपा करके ऐसा संयोग बैठाते हो। आप ही ऐसी परिस्थिति पैदा कर देते हो, जिससे हम और कहीं जा नहीं सकते! यह सब आप ही करते हो और आपको करना ही पड़ेगा; क्योंकि हम आपके हैं। अच्छे हैं तो आपके हैं, बुरे हैं तो आपके हैं—***'जो हम भले बुरे तौ तेरे'!*** हम आपके पाले पड़ गये! आप भी क्या कर सकते हो? आपमें खींचनेकी ताकत तो है, पर दूर करनेकी ताकत है ही नहीं! आपका स्वभाव ही ऐसा है!

---

* उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(मानस, सुन्दर० ३४। २)

हे नाथ! आप कितनी-कितनी विलक्षण कृपा करते हो कि हम पहचान ही नहीं सकते। आपका दिया हुआ ही आपको मोहित कर रहा है! आपके दिये हुए गुणोंसे ही आप मोहित हो जाते हो! हमारे अवगुणोंकी तरफ, हमारी स्थितिकी तरफ, हमारे विकारोंकी तरफ, हमारे विचारोंकी तरफ आपकी दृष्टि जाती ही नहीं। यह आपका स्वभाव है, हमारा गुण नहीं, इस स्वभावके परवश होकर ही आप हमारेको अपनी तरफ खींचते हो। हम आपकी इस कृपाको किंचित् भी कह नहीं सकते, जान नहीं सकते, पहचान नहीं सकते! हमारी क्या ताकत है? हमारा तो कहना ही क्या है, जो मुक्त हो गये हैं, उन तत्त्वज्ञ महापुरुषोंको भी आप अपनी तरफ खींचते रहते हो*, उनको भी निजानन्दमें टिकने नहीं देते हो! उनको अपना परमप्रेम प्रदान करनेके लिये आप लालायित हो जाते हो और इसके लिये उनके जीवन्मुक्तिके आनन्दको भी फीका, किरकिरा कर देते हो। जब जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी भी ऐसी बात है, फिर हम अपनी कहाँतक कहें? हमारी बुद्धि, विचारशक्ति वहाँतक पहुँचती ही नहीं!

हे प्रभो! हम सांसारिक मायामोहमें फँसे हुए हैं। उसमें ही बने रहना चाहते हैं। उसमें ही सुख मानते हैं, आराम मानते हैं। हम उसमें ही अपना हित मानते हैं, जो कि हमारे अहितका खास कारण है। बुराईको हम भलाईसे भी विशेष आदर देते हैं। हम जानकर उद्योगपूर्वक छिप-छिपकर पाप करते हैं। पाप, अन्यायजनित सुख मिलनेमें अपना सौभाग्य, लाभ, बुद्धिमत्ता, चतुराई मानते हैं। पापजन्य रुपये-पैसे, सुख-आराम मिलनेपर खुशी मनाते हैं कि हम निहाल हो

---

* आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जड़ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे जीवोंको अपनी तरफ खींच लेते हैं।' (श्रीमद्भा० १। ७। १०)

गये! मौज हो गयी! इनके दोषोंकी तरफ हमारी दोषदृष्टि जाती ही नहीं, जिससे हम फँस जाते हैं, चौरासी लाख योनियोंमें जाते हैं, नरकोंमें जाते हैं, दुःख भोगते हैं, कराहते हैं, चिल्लाते हैं, पुकारते हैं। फिर भी उधर ही जानेका मन करता है! क्या करें नाथ! आप ही हमें अपनी तरफ खींच लें।

हे नाथ! आपकी कृपाकी तरफ हमारी दृष्टि जाती है तो वह भी आपकी कृपासे ही जाती है। पर हम इसको भी नहीं पहचानते! आसक्ति, कामना, मोह, मूढ़ता, घमण्ड, ईर्ष्या आदि बड़े-बड़े दोषोंके जालमें हम फँसे हुए हैं, जो कि पतन करनेवाली, दुःख देनेवाली आसुरी-सम्पत्ति है। हमारी तो यह दशा है! परन्तु आप हमारे स्वभाव, कृति आदिको न देखकर हमें अपनी तरफ खींचते हो, यह आपकी कृपा है, आपका स्वभाव है। हम तो इसको भी नहीं पहचानते। हाँ, कभी-कभी मनमें लहर आ जाती है, आपकी कृपाकी तरफ हमारी दृष्टि चली जाती है तो यह भी आपकी कृपासे होता है। आप कृपादृष्टिसे थोड़ा-सा देखते हो, उसीसे यह बात पैदा होती है। नहीं तो हमारेमें वैसी कोई योग्यता नहीं, कोई सामर्थ्य नहीं, इस तरफ हमारी कोई रुचि नहीं। हमारी रुचि तो संसारके भोगोंकी है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—सब प्रकृतिके हैं, पर इनके वशमें होकर हम विषयोंका सेवन करते हैं, इनकी हाँ-में-हाँ मिलाते हैं। हमारी दशा तो यह है! आप ही कृपा करते हो तो हमारी दृष्टि आपकी कृपाकी तरफ जाती है। ऐसे युगमें, ऐसे वायुमण्डलमें, ऐसे समुदायमें, ऐसी प्रवृत्तिमें हम रहते हैं, फिर भी आपकी तरफ खिंचाव होता है तो यह केवल आपकी कृपासे ही होता है। आपकी तरफ हमारी जो रुचि होती है, वह भी आपकी दी हुई है प्रभो! हमारे पास क्या है? केवल आपकी कृपा है। उस कृपाके ही भरोसे हम आपकी तरफ चलते हैं। हमारेमें कोई योग्यता नहीं, कोई सामर्थ्य नहीं, कोई विवेक-विचार नहीं! आपके ही दिये हुए विवेकको हम

अपना मान लेते हैं और अभिमान कर लेते हैं कि हम ऐसे समझदार हैं! हमारी बेसमझीकी, मूर्खताकी हद हो गयी महाराज! परन्तु आपका इस तरफ खयाल ही नहीं है—*'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ'!*

दूसरे आदमी तो बेचारे भ्रममें रह जायँ; क्योंकि वे हमारेको जानते नहीं हैं। परन्तु आप तो हमारे रग-रगकी बात जानते हो। आप हमारे मनकी स्फुरणाको भी जानते हो, पहले किये हुए हमारे कर्मोंको भी जानते हो, हमारी वर्तमान दशाको भी जानते हो, हमारे बुरे स्वभावको, पुरानी आदतको भी जानते हो; परन्तु आप उस तरफ देखते ही नहीं! उलटे आप हमें अपनी तरफ खींचते हो; क्योंकि यह आपका स्वभाव है। इस स्वभावसे ही आप जीवको अपनी विशेष कृपासे चौरासी लाख योनियाँ, नरक, दु:ख, हानि, रोग, शोक, भय, उद्वेग, सन्ताप आदि देते हो, जिससे इसको चेत हो जाय। जैसे सोते हुए आदमीको उठाना हो तो सूई चुभानेसे उसको चेत हो जाता है, ऐसे ही हमें चेतानेके लिये, अपनी ओर खींचनेके लिये आप प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हो। आप किसी भी अवस्था, परिस्थितिमें हमें टिकने नहीं देते—यह आपका निरन्तर आह्वान है, अपनी तरफ बुलाना है। आपने अपनी कृपासे संसारकी रचना ही ऐसी की है कि कोई भी अवस्था, परिस्थिति आदि निरन्तर हमारे साथ नहीं रहती। संसारका निरन्तर हमारेसे वियोग होता रहता है।

हे प्रभो! आप हमें चेत करानेमें कमी नहीं करते, हमें बार-बार चेताते हो, फिर भी हम चेत नहीं करते, उलटे अपने बल और बुद्धिमानीसे पुन: उन्हीं दोषोंकी तरफ जाते हैं! उन दोषोंके फलस्वरूप मिली प्रतिकूल परिस्थितिसे बचनेके लिये हम पुन: वही दोष करते हैं—यह तो हमारी दशा है! फिर भी हमें चेत करानेमें आप उकताते नहीं—यह आपकी कृपा है! हमारी तो कभी कोई इच्छा हो जाती है, कभी कोई चाहना हो जाती है, कभी कोई मार्ग पकड़ लेते हैं, कभी किसीका संग कर लेते हैं, कभी किसीकी बात ठीक मान

लेते हैं—ऐसे हम भ्रममें पड़ जाते हैं, फिर भी आप हमें निकाल लेते हो। आपकी कृपा बड़ी विलक्षण है!

हे नाथ! आपके भीतर जीवोंका कल्याण करनेकी जो चाह है, उसको हम समझ ही नहीं पाते। माँकी कृपाको बालक क्या समझे? बालक तो बेसमझ होता है। माँ तो उसको नहलाकर साफ करती है, पर वह रोता है। यही दशा हमारी है महाराज! इसलिये हे नाथ! कृपा करो। कृपा कर ही रहे हो। क्या हमारे कहनेसे कृपा करोगे? आपका तो स्वभाव ही कृपा करनेका है। फिर भी हम आपसे बार-बार कहते हैं कि कृपा करो, तो इस बातको भी आप सह लेते हो! यह आपकी कितनी सहिष्णुता है, धैर्य है! आप अपनी तरफसे स्वतः-स्वाभाविक कृपा करते हो और उसीसे जीवोंका उद्धार होता है। जीवोंको कुछ चेत होता है, होश आता है तो आपकी कृपासे ही आता है। वे निषिद्ध आचरण करते हैं तो आप ही उनको नरकोंमें भेजकर शुद्ध करते हो। आपने गीतामें कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। २०)

'हे कुन्तीनन्दन! वे मूढ़ मनुष्य मेरेको प्राप्त न करके ही जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अधिक अधम गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें चले जाते हैं।'

आपने कितनी विलक्षण बात कही है कि मूढ़ मनुष्य मेरेको प्राप्त न करके आसुरी योनियोंमें चले जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आप सब मनुष्योंको अपनी प्राप्ति कराना चाहते हो! इसीलिये आप उनको ऐसा विवेक, अवसर, संग देते हो, जिससे वे आपकी प्राप्ति कर सकें। परन्तु हम आपके दिये हुए विवेकका दुरुपयोग करके पतनकी तरफ जा रहे हैं और उसमें अपनी बुद्धिमानी मान रहे हैं! हे नाथ! पतितोंका उद्धार करना आपका सहज स्वभाव है। आपके इस

स्वभावको देखकर हमारे मनमें विशेष उत्साह होता है कि हम पतित हैं और आप पतितपावन हैं, फिर हमारा उद्धार होनेमें क्या सन्देह है?

मैं हरि पतित-पावन सुने।

मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने॥

(विनयपत्रिका १६०)

संसारमें सब अलग-अलग दीखनेपर भी तत्त्वसे एक परमात्मा ही हैं और एक परमात्मा होते हुए भी वे अनेक रूपसे दीख रहे हैं। जैसे, गीताकी अलग-अलग टीकाएँ होनेपर भी गीता एक ही है। मनुष्योंके अनेक भेद (रंग, आकृति आदि) होनेपर भी मनुष्य एक ही है। गायके सैकड़ों भेद होनेपर भी गाय एक ही है। आमके सैकड़ों भेद होनेपर भी आम एक ही है। गुलाबके सैकड़ों भेद होनेपर भी गुलाब एक ही है। अनेक तरहकी मिट्टी होनेपर भी जमीन एक ही है। ऐसे ही देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदि अनेक होनेपर भी उन रूपोंमें भगवान् एक ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)।